भगवान श्रीकुन्दकुन्द—कहान जैन शास्त्रमाला पुष्प * १०२ *

आचार्य कल्प
श्रीमान पंडित प्रवर श्री टोडरमलजी कृत

श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक

अध्याय ७

मूल हस्तलिखित प्रतिसे आधुनिक भाषामें परिवर्तन कर्ता
मगनलाल जैन (ललितपुर-उ० प्र०)
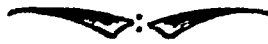
प्रकाशक:—
श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

* मूल्य *
सर्वज्ञ वीतराग कथित यथार्थता, स्वतंत्रता और वीतरागताके
ग्रहण द्वारा स्वसन्मुख होना।

सातवाँ अधिकार

जैन मिथ्यादृष्टिका विवेचन

* दोहा *

इस भवतरुका मूल इक, जानहु मिथ्याभाव ।
ताकों करि निर्मूल अब, करिए मोक्ष उपाव ॥ १ ॥

अब, जो जीव जैन हैं, जिनआज्ञाको मानते हैं, और उनके भी मिथ्यात्व रहता है उसका वर्णन करते हैं—क्योंकि इस मिथ्यात्ववैरीका अंश भी बुरा है, इसलिये सूक्ष्म मिथ्यात्व भी त्यागने योग्य है । वहाँ जिनागममें निश्चय-व्यवहाररूप वर्णन है । उनमें यथार्थका नाम निश्चय है, उपचारका नाम व्यवहार है । इनके स्वरूपको न जानते हुए अन्यथा प्रवर्तते हैं, वही कहते हैं—

[एकान्त निश्चयावलम्बी जैनाभास]

कितने ही जीव निश्चयको न जानते हुए निश्चयाभासके श्रद्धानी होकर अपनेको मोक्षमार्गी मानते हैं; अपने आत्माका सिद्धसमान अनुभव करते हैं, आप प्रत्यक्ष संसारी हैं । भ्रमसे अपनेको सिद्ध मानते हैं वही मिथ्यादृष्टि है । शास्त्रोंमें जो सिद्ध समान आत्माको कहा है वह द्रव्यदृष्टिसे कहा है, पर्याय अपेक्षा सिद्ध समान नहीं है । जैसे–राजा और रंक मनुष्यपनेकी अपेक्षा समान हैं, परन्तु राजापने और रंकपनेकी अपेक्षासे तो समान नहीं हैं । उसी प्रकार सिद्ध और संसारी जीवत्वपनेकी अपेक्षा समान हैं, परन्तु सिद्धपने-और संसारीपनेकी अपेक्षा तो समान नहीं हैं । तथापि ये तो जैसे सिद्ध शुद्ध हैं, वैसा ही अपनेको शुद्ध मानते हैं । परन्तु वह शुद्ध-अशुद्ध अवस्था पर्याय है; इस पर्याय अपेक्षा समानता मानी जाये तो यही मिथ्यादृष्टि है । तथा अपनेको केवलज्ञानादिका सद्भाव मानते हैं, परन्तु अपनेको तो क्षयोपशमरूप मति-श्रुतादि ज्ञानका सद्भाव है, क्षायिक-

भाव तो कर्मका क्षय होनेपर होता है और ये भ्रमसे कर्मका क्षय हुए विना ही क्षायिक-भाव मानते हैं, सो यही मिथ्यादृष्टि है। शास्त्रमें सर्व जीवोंका केवलज्ञान स्वभाव कहा है वह शक्तिअपेक्षासे कहा है। क्योंकि सर्व जीवोंमें केवलज्ञानादिरूप होनेकी शक्ति है; वर्तमान व्यक्तता तो व्यक्त होनेपर ही कही जाती है।

[केवलज्ञान निषेध]

कोई ऐसा मानता है कि आत्माके प्रदेशोंमें तो केवलज्ञान ही है, ऊपर आवरण होनेसे प्रगट नहीं होता, सो यह भ्रम है। यदि केवलज्ञान हो तो वज्रपटलादि आड़े होनेपर भी वस्तुको जानता है; कर्म आड़े आने पर वह कैसे अटकेगा? इसलिये कर्मके निमित्तसे केवलज्ञानका अभाव ही है। यदि इसका सर्वदा सद्भाव रहता तो इसे पारिणामिक भाव कहते, परन्तु यह तो क्षायिकभाव है। सर्वभेद जिसमें गर्भित हैं ऐसा चैतन्यभाव सो पारिणामिकभाव है। इसकी अनेक अवस्थाएँ मतिज्ञानादिरूप व केवलज्ञानादिरूप हैं, सो यह पारिणामिकभाव नहीं हैं। इसलिये केवलज्ञानका सर्वदा सद्भाव नहीं मानना। तथा शास्त्रोंमें जो सूर्यका दृष्टान्त दिया है उसका इतना ही भाव लेना कि—जैसे मेघपटल होते हुए सूर्यका प्रकाश प्रगट नहीं होता, उसी प्रकार कर्मउदय होते हुए केवलज्ञान नहीं होता। तथा ऐसा भाव नहीं लेना कि—जैसे सूर्यमें प्रकाश रहता है वैसे आत्मामें केवलज्ञान रहता है; क्योंकि दृष्टान्त सर्वप्रकारसे मिलता नहीं है। जैसे—पुद्गलमें वर्ण गुण है, उसकी हरित-पीतादि अवस्थाएँ हैं; सो वर्तमानमें कोई अवस्था होनेपर अन्य अवस्थाका अभाव है। उसी प्रकार आत्मामें चैतन्यगुण है, उसकी मतिज्ञानादिरूप अवस्थाएँ हैं; सो वर्तमानमें कोई अवस्था होनेपर अन्य अवस्थाका अभाव ही है।

तथा, कोई कहे कि—आवरण नाम तो वस्तुको आच्छादित करनेका है; केवलज्ञानका सद्भाव नहीं है तो केवलज्ञानावरण किसलिये कहते हो?

उत्तरः—यहाँ शक्ति है, उसे व्यक्त न होने दे, इस अपेक्षा आवरण कहा है। जैसे—देशचारित्रका अभाव होनेपर शक्ति घातनेकी अपेक्षा अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहा, उसी प्रकार जानना। तथा ऐसा जानना कि—वस्तुमें पर निमित्तसे जो भाव हो उसका नाम औपाधिकभाव है और परनिमित्तके विना जो भाव हो उसका नाम स्वभाव भाव है। जैसे—जलको अग्निका निमित्त होनेपर उष्णपना हुआ वहाँ शीतलपनेका अभाव ही है; परन्तु अग्निका निमित्त मिटने पर शीतलता ही होजाती है, इसलिये सदा-

काल जलका स्वभाव शीतल कहा जाता है, क्योंकि ऐसी शक्ति सदा पायी जाती है और व्यक्त होनेपर स्वभाव व्यक्त हुआ कहते हैं। कदाचित् व्यक्तरूप होता है। उसी प्रकार आत्माको कर्मका निमित्त होनेपर अन्य रूप हुआ वहाँ केवलज्ञानका अभाव ही है; परन्तु कर्मका निमित्त मिटने पर सर्वदा केवलज्ञान होजाता है; इसलिये सदाकाल आत्माका स्वभाव केवलज्ञान कहा जाता है; क्योंकि ऐसी शक्ति सदा पायी जाती है। व्यक्त होनेपर स्वभाव व्यक्त हुआ कहा जाता है। तथा जैसे—शीतल स्वभावके कारण उष्णजलको शीतल मानकर पानादि करे तो जलना ही होगा; उसी प्रकार केवलज्ञानस्वभावके कारण अशुद्ध आत्माको केवलज्ञानी मानकर अनुभव करे तो दुःखी ही होगा। इस प्रकार जो आत्माका केवलज्ञानादिरूप अनुभव करते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं।

तथा रागादिक भाव अपनेको प्रत्यक्ष होनेपर भी भ्रमसे आत्माको रागादि रहित मानते हैं। सो पूछते हैं कि—ये रागादिक तो होते दिखायी देते हैं, ये किस द्रव्यके अस्तित्वमें हैं? यदि शरीर या कर्मरूप पुद्गलके अस्तित्वमें हों तो ये भाव अचेतन या मूर्तिक होंगे। परन्तु ये रागादिक तो प्रत्यक्ष चेतनता सहित अमूर्तिक भाव भासित होते हैं; इसलिये ये भाव आत्माहीके हैं। यही समयसार कलशमें कहा है :—

> कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो-
> रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषंगात्कृतिः।
> नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
> जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः॥ २०३॥

इसका अर्थ यह है—रागादिरूप भावकर्म है सो किसीके द्वारा नहीं किया गया ऐसा नहीं है, क्योंकि यह कार्यभूत है। तथा जीव और कर्म प्रकृति इन दोनोंका भी कर्तव्य नहीं है, क्योंकि ऐसा हो तो अचेतनकर्मप्रकृतिको भी उस भावकर्मका फल सुख-दुःखका भोगना होगा, सो असंभव है। तथा अकेली कर्म प्रकृतिका भी यह कर्तव्य नहीं है, क्योंकि उसके अचेतनपना प्रगट है; इसलिये इस रागादिकका जीव ही कर्ता है और यह रागादिक जीवहीका कर्म है; क्योंकि भावकर्म तो चेतनाका अनुसारी है, चेतना बिना नहीं होता, और पुद्गल ज्ञाता है नहीं। इस प्रकार रागादिकभाव जीवके अस्तित्वमें हैं। अब, जो रागादिकभावोंका निमित्त कर्महीको मानकर अपनेको रागादिकका अकर्त्ता मानते हैं वे कर्त्ता तो आप हैं, परन्तु आपको निरुद्यमी होकर प्रमादी रहना है, इसलिये कर्महीका दोष ठहराते हैं। सो यह दुःखदायक भ्रम है। ऐसा ही समयसारके कलशमें कहा है—

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते ।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ।। २२१ ।।

इसका अर्थ:—जो जीव रागादिककी उत्पत्तिमें परद्रव्यहीका निमित्तपना मानते हैं, वे जीव शुद्धज्ञानसे रहित हैं अन्धबुद्धि है जिनकी ऐसे होते हुए मोहनदीके पार नहीं उतरते हैं। तथा समयसारके "सर्व विशुद्धज्ञान अधिकार" में जो आत्माको अकर्त्ता मानता है और यह कहता है कि—कर्म ही जगाते-सुलाते हैं, परघात कर्मसे हिंसा है, वेदकर्मसे अब्रह्म है, इसलिये कर्म ही कर्ता है, उस जैनीको सांख्यमती कहा है। जैसे—सांख्यमती आत्माको शुद्धमानकर स्वच्छन्द होता है, उसी प्रकार यह हुआ। तथा इस श्रद्धानसे यह दोष हुआ कि—रागादिकको अपना नहीं जाना, अपनेको अकर्ता माना, तब रागादिक होनेका भय नहीं रहा तथा रागादिकको मिटानेका उपाय करना नहीं रहा; तब स्वच्छन्द होकर खोटे कर्मोंका बन्ध करके अनन्त संसारमें रुलता है।

यहाँ प्रश्न है कि—समयसारमें ही ऐसा कहा है—

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा
भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः* ।

इसका अर्थ—वर्णादिक अथवा रागादिक भाव हैं वे सभी इस आत्मासे भिन्न हैं। तथा वहीं रागादिकको पुद्‌गलमय कहा है। तथा अन्यशास्त्रोंमें भी आत्माको रागादिकसे भिन्न कहा है। सो वह किस प्रकार है?

उत्तर:—रागादिकभाव परद्रव्यके निमित्तसे औपाधिकभाव होते हैं, और यह जीव उन्हें स्वभाव जानता है। जिसे स्वभाव जाने उसे बुरा कैसे मानेगा और उसके नाशका उद्यम किसलिये करेगा? इसलिये यह श्रद्धान भी विपरीत है। उसे छुड़ानेके लिये स्वभावकी अपेक्षा रागादिकको भिन्न कहा है और निमित्तकी मुख्यतासे पुद्‌गलमय कहा है। जैसे—वैद्य रोग मिटाना चाहता है; यदि शीतकी अधिकता देखता है तब उष्ण औषधि बतलाता है और यदि आतापकी अधिकता देखता है तब शीतल औषधि बतलाता है। उसी प्रकार श्री गुरु रागादिक छुड़ाना चाहते हैं; जो रागादिकको परका मानकर स्वच्छन्द होकर निरुद्यमी होता है, उसे उपादान कारणकी मुख्यतासे रागादिक आत्माके हैं—ऐसा श्रद्धान कराया है, तथा जो रागादिकको अपना स्वभाव मानकर

---

* वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः ।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ।। ३७ ।।

उनके नाशका उद्यम नहीं करता उसे निमित्त कारणकी मुख्यतासे रागादिक परभाव हैं ऐसा श्रद्धान कराया है। दोनों विपरीत श्रद्धानोंसे रहित होनेपर सत्य श्रद्धान होगा तव ऐसा मानेगा कि—ये रागादिक भाव आत्माका स्वभाव तो नहीं हैं, कर्मके निमित्तसे आत्माके अस्तित्वमें विभाव पर्यायरूपसे उत्पन्न होते हैं, निमित्त मिटने पर इनका नाश होनेसे स्वभावभाव रह जाता है, इसलिये इनके नाशका उद्यम करना।

यहाँ प्रश्न है कि—यदि यह कर्मके निमित्तसे होते हैं तो कर्मका उदय रहेगा तव तक यह विभाव दूर कैसे होंगे ? इसलिये इसका उद्यम करना तो निरर्थक है ?

उत्तरः—एक कार्य होनेमें अनेक कारण चाहिये। उनमें जो कारण वुद्धिपूर्वक हों उन्हें तो उद्यम करके मिलाये, और अवुद्धिपूर्वक कारण स्वयमेव मिलें तव कार्य सिद्धि होती है। जैसे—पुत्र होनेका कारण वुद्धिपूर्वक तो विवाहादि करना है और अवुद्धिपूर्वक भवितव्य है। वहाँ पुत्रका अर्थी विवाहादिका तो उद्यम करे और भवितव्य स्वयमेव हो, तव पुत्र होगा उसी प्रकार विभाव दूर करनेके कारण वुद्धिपूर्वक तो तत्त्वविचारादि हैं और अवुद्धिपूर्वक मोहकर्मके उपशमादिक हैं। सो उसका अर्थी तत्त्वविचारादिकका तो उद्यम करे, और मोहकर्मके उपशमादिक स्वयमेव हों तव रागादिक दूर होते हैं।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि—जैसे विवाहादिक भी भवितव्य आधीन हैं, उसी प्रकार तत्त्वविचारादिक भी कर्मके क्षयोपशमादिकके आधीन हैं; इसलिये उद्यम करना निरर्थक है ?

उत्तरः—ज्ञानावरणका तो क्षयोपशम तत्त्वविचारादिक करने योग्य तेरे हुआ है; इसीलिये उपयोगको वहाँ लगानेका उद्यम कराते हैं। असंज्ञी जीवोंके क्षयोपशम नहीं है, तो उन्हें किसलिये उपदेश दें ?

तव वह कहता है—होनहार हो तो वहाँ उपयोग लगे, विना होनहार कैसे लगे ?

उत्तरः—यदि ऐसा श्रद्धान है तो सर्वत्र किसी भी कार्यका उद्यम मत कर। तू खान-पान-व्यापारादिकका तो उद्यम करता है और यहाँ होनहार वतलाता है; इससे मालूम होता है कि तेरा अनुराग यहाँ नहीं है; मानादिकसे ऐसी झूठी वातें वनाता है। इस प्रकार जो रागादिक होते हुए आत्माको उनसे रहित मानते हैं उन्हें मिथ्यादृष्टि जानना।

तथा कर्म-नोकर्मका सम्बन्ध होते हुए आत्माको निर्बंध मानते हैं, सो इनका बन्धन प्रत्यक्ष देखा जाता है। ज्ञानावरणादिकसे ज्ञानादिकका घात देखा जाता है, शरीर द्वारा उसके अनुसार अवस्थाएँ होती देखी जाती हैं, फिर बन्धन कैसे नहीं है ? यदि बन्धन न हो तो मोक्षमार्गी इनके नाशका उद्यम किसलिये करे ?

यहाँ कोई कहे कि—शास्त्रोंमें आत्माको कर्म-नोकर्मसे भिन्न अबद्ध स्पृष्ट कैसे कहा है ?

उत्तरः—सम्बन्ध अनेक प्रकारके हैं। वहाँ तादात्म्यसम्बन्धकी अपेक्षा आत्माको कर्म-नोकर्मसे भिन्न कहा है, क्योंकि द्रव्य पलटकर एक नहीं हो जाते, और इसी अपेक्षासे अवद्धस्पृष्ट कहा है। तथा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धकी अपेक्षा बन्धन है ही; उनके निमित्तसे आत्मा अनेक अवस्थाएँ धारण करता ही है; इसलिये अपनेको सर्वथा निर्बंध मानना मिथ्यादृष्टि है।

यहाँ कोई कहे कि—हमें तो बन्ध-मुक्तिका विकल्प करना नहीं, क्योंकि शास्त्रमें ऐसा कहा है—

"जो बन्धउ मुक्कउ मुणइ, सो बंधइ णिभंतु।"

अर्थ—जो जीव बँधा और मुक्त हुआ मानता है वह निःसन्देह बँधता है। उससे कहते हैं:—

जो जीव केवल पर्यायदृष्टि होकर बन्धमुक्त अवस्थाहीको मानते हैं, द्रव्य स्वभावका ग्रहण नहीं करते उन्हें ऐसा उपदेश दिया है कि—द्रव्य स्वभावको न जानता हुआ जो जीव बँधा–मुक्त हुआ मानता है वह बँधता है। तथा यदि सर्वथा ही बन्ध–मुक्ति न हो तो यह जीव बँधता है—ऐसा क्यों कहे ? तथा बन्धके नाशका–मुक्त होनेका उद्यम किसलिये किया जाये ? और किसलिये आत्मानुभव किया जाये ? इसलिये द्रव्यदृष्टिसे एकदशा है और पर्याय दृष्टिसे अनेक अवस्थाएँ होती हैं—ऐसा मानना योग्य है। ऐसे ही अनेक प्रकारसे केवल निश्चयनयके अभिप्रायसे विरुद्ध श्रद्धानादिक करता है। जिनवाणीमें तो नाना नयोंकी अपेक्षासे कहीं कैसा, कहीं कैसा निरूपण किया है, यह अपने अभिप्रायसे निश्चयनयकी मुख्यतासे जो कथन किया हो उसीको ग्रहण करके मिथ्यादृष्टिको धारण करता है। तथा जिनवाणीमें तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकता होनेपर मोक्षमार्ग कहा है; सो इसके सम्यग्दर्शन-ज्ञानमें साततत्त्वोंका श्रद्धान और जानना होना चाहिये, सो उनका विचार नहीं है और चारित्रमें रागादिक दूर करना

चाहिये उसका उद्यम नहीं है; एक अपने आत्माके शुद्ध अनुभवनको ही मोक्षमार्ग जानकर सन्तुष्ट हुआ है। उसका अभ्यास करनेको अन्तरंगमें ऐसा चिंतवन करता रहता है कि—मैं सिद्धसमान शुद्ध हूँ, केवलज्ञानादि सहित हूँ, द्रव्यकर्म, नोकर्म रहित हूँ, परमानन्दमय हूँ, जन्म-मरणादि दुःख मेरे नहीं हैं—इत्यादि चिंतवन करता है। सो यहाँ पूछते हैं कि—यह चिंतवन यदि द्रव्यदृष्टिसे करते हो, तो द्रव्य तो शुद्ध-अशुद्ध सर्व पर्यायोंका समुदाय है; तुम शुद्ध ही अनुभवन किसलिये करते हो? और पर्यायदृष्टिसे करते हो तो तुम्हारे तो वर्तमान अशुद्ध पर्याय है, तुम अपनेको शुद्ध कैसे मानते हो? तथा यदि शक्तिअपेक्षा शुद्ध मानते हो तो, 'मैं ऐसा होने योग्य हूँ'—ऐसा मानो; 'मैं ऐसा हूँ'—ऐसा क्यों मानते हो? इसलिये अपनेको शुद्धरूप चिंतवन करना भ्रम है। कारण कि—तुमने अपनेको सिद्ध समान माना तो यह संसार अवस्था किसकी है? और तुम्हारे केवलज्ञानादि हैं तो यह मतिज्ञानादिक किसके हैं? और द्रव्यकर्म नोकर्म रहित हो, तो ज्ञानादिककी व्यक्तता क्यों नहीं है? परमानन्दमय हो तो अब कर्तव्य क्या रहा? जन्म-मरणादि दुःख नहीं हैं, तो दुःखी कैसे होते हो?—इसलिये अन्य अवस्थामें अन्य अवस्था मानना भ्रम है।

यहाँ कोई कहे कि—शास्त्रमें शुद्ध चिंतवन करनेका उपदेश कैसे दिया है?

उत्तरः—एक तो द्रव्य अपेक्षा शुद्धपना है, एक पर्याय अपेक्षा शुद्धपना है। वहाँ द्रव्य अपेक्षा तो परद्रव्यसे भिन्नपना और अपने भावोंसे अभिन्नपना-उसका नाम शुद्धपना है। और पर्याय अपेक्षा औपाधिकभावोंका अभाव होनेका नाम शुद्धपना है। सो शुद्धचिंतवनमें द्रव्यअपेक्षा शुद्धपना ग्रहण किया है। वही समयसार व्याख्यामें कहा है—

एष एवाशेषद्रव्यान्तरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलप्येत।

(गाथा—६ टीका)

इसका अर्थ यह है कि—आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। सो यही समस्त परद्रव्योंके भावोंसे भिन्नपने द्वारा सेवन किया गया शुद्ध ऐसा कहा जाता है।

तथा वहीं ऐसा कहा है—

*समस्तकारक चक्रप्रक्रियोत्तीर्ण निर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः।

(गाथा—७३ टीका)

---

* आत्मख्यातौ तु 'सकल' इति पाठः प्रतिभाति।

अर्थ:—समस्त ही कर्ता, कर्म आदि कारकोंके समूहकी प्रक्रियासे पारंगत ऐसी निर्मल अनुभूति, जो अभेदज्ञान तन्मात्र है, उससे शुद्ध है। इसलिये ऐसा शुद्ध शब्दका अर्थ जानना। तथा इसी प्रकार केवल शब्दका अर्थ जानना—'जो परभावसे भिन्न-निःकेवल आप ही'—उसका नाम केवल है। इसी प्रकार अन्य यथार्थ अर्थका अवधारण करना। पर्यायअपेक्षा शुद्धपना माननेसे तथा अपनेको केवली माननेसे महाविपरीतता होती है, इसलिये अपनेको द्रव्य-पर्यायरूप अवलोकन करना। द्रव्यसे सामान्यस्वरूप अवलोकन करना, पर्यायसे अवस्था विशेष अवधारण करना। इसी प्रकार चिंतवन करनेसे सम्यग्दृष्टि होता है, क्योंकि सच्चा अवलोकन किये बिना सम्यग्दृष्टि नाम कैसे प्राप्त करे? तथा मोक्षमार्गमें तो रागादिक मिटानेका श्रद्धान-ज्ञान-आचरण करना है; वह तो विचार ही नहीं है, अपने शुद्ध अनुभवनसे ही अपनेको सम्यग्दृष्टि मानकर अन्य सर्व साधनोंका निषेध करता है।

[शास्त्राभ्यासकी निरर्थकताका निषेध]

शास्त्राभ्यास करना निरर्थक बतलाता है, द्रव्यादिकके तथा गुणस्थान, मार्गणा, त्रिलोकादिकके विचारको विकल्प ठहराता है, तपश्चरण करनेको वृथा क्लेश करना मानता है, व्रतादिक धारण करनेको बन्धनमें पड़ना ठहराता है, पूजनादि कार्योंको शुभास्रव जानकर हेय प्ररूपित करता है,—इत्यादि सर्व साधनोंको उठाकर प्रमादी होकर परिणमित होता है। यदि शास्त्राभ्यास निरर्थक हो तो मुनियोंके भी तो ध्यान और अध्ययन दो ही कार्य मुख्य हैं। ध्यानमें उपयोग न लगे तब अध्ययनहीमें उपयोगको लगाते हैं, बीचमें अन्य स्थान उपयोग लगाने योग्य नहीं हैं। तथा शास्त्राभ्यास द्वारा तत्त्वोंको विशेष जाननेसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान निर्मल होता है। तथा वहाँ जब तक उपयोग रहे तब तक कषाय मन्द रहे और आगामी वीतरागभावोंकी वृद्धि हो। ऐसे कार्यको निरर्थक कैसे मानें?

तथा वह कहता है कि—जिनशास्त्रोंमें अध्यात्म उपदेश है उनका अभ्यास करना, अन्य शास्त्रोंके अभ्याससे कोई सिद्धि नहीं है?

उससे कहते हैं—यदि तेरे सच्ची दृष्टि हुई है तो सभी जैन शास्त्र कार्यकारी हैं। वहाँ भी मुख्यतः अध्यात्म शास्त्रोंमें तो आत्मस्वरूपका मुख्य कथन है, सो सम्यग्दृष्टि होनेपर आत्मस्वरूपका निर्णय तो हो चुका, तब तो ज्ञानकी निर्मलताके अर्थ व उपयोगको मंदकषायरूप रखनेके अर्थ अन्य शास्त्रोंका अभ्यास मुख्य चाहिये। तथा आत्मस्वरूप-

का निर्णय हुआ है, उसे स्पष्ट रखनेके अर्थ अध्यात्मशास्त्रोंका भी अभ्यास चाहिये; परन्तु अन्य शास्त्रोंमें अरुचि तो नहीं होना चाहिये। जिसको अन्य शास्त्रोंकी अरुचि है उसे अध्यात्मकी रुचि सच्ची नहीं है। जैसे—जिसके विषयासक्तपना हो, वह विषयासक्त पुरुषोंकी कथा भी रुचिपूर्वक सुने, वा विषयके विशेषको भी जाने वा विषयके आचरणमें जो साधन हों उन्हें भी हितरूप माने, व विषयके स्वरूपको भी पहिचाने, उसी प्रकार जिसके आत्मरुचि हुई हो, वह आत्मरुचिके धारक तीर्थंकरादिके पुराणोंको भी जाने तथा आत्माके विशेष जाननेके लिये गुणस्थानादिकको भी जाने। तथा आत्मआचरणमें जो व्रतादिक साधन हैं उनको भी हितरूप माने। तथा आत्माके स्वरूपको भी पहिचाने। इसलिये चारों ही अनुयोग कार्यकारी हैं। तथा उनका अच्छा ज्ञान होनेके अर्थ शब्द न्यायशास्त्रादिकको भी जानना चाहिये। इसलिये अपनी शक्तिके अनुसार सभीका थोड़ा या बहुत अभ्यास करना योग्य है।

फिर वह कहता है—'पद्मनन्दि पच्चीसी' में ऐसा कहा है कि—आत्मस्वरूपसे निकलकर बाह्य शास्त्रोंमें बुद्धि विचरती है, सो वह बुद्धि व्यभिचारिणी है?

उत्तरः—यह सत्य कहा है। बुद्धि तो आत्माकी है, उसे छोड़कर परद्रव्य–शास्त्रोंमें अनुरागिनी हुई, उसे व्यभिचारिणी ही कहा जाता है। परन्तु जैसे—स्त्री शीलवती रहे तो योग्य ही है; और न रहा जाये तब उत्तम पुरुषको छोड़कर चांडालादिकका सेवन करनेसे तो अत्यन्त निंदनीय होगी, उसी प्रकार बुद्धि आत्मस्वरूपमें प्रवर्ते तो योग्य ही है, और न रहा जाये तो प्रशस्त शास्त्रादि परद्रव्योंको छोड़कर अप्रशस्त विषयादिमें लगे तो महानिन्दनीय ही होगी। सो मुनियोंकी भी स्वरूपमें बहुत काल बुद्धि नहीं रहती, तो तेरी कैसे रहा करे? इसलिये शास्त्राभ्यासमें उपयोग लगाना योग्य है।

तथा यदि द्रव्यादिकके और गुणस्थानादिकके विचारको विकल्प ठहराता है, सो विकल्प तो है; परन्तु निर्विकल्प उपयोग न रहे तब इन विकल्पोंको न करे तो अन्य विकल्प होंगे, वे बहुत रागादि गर्भित होते हैं। तथा निर्विकल्पदशा सदा रहती नहीं है; क्योंकि छद्मस्थका उपयोग एकरूप उत्कृष्ट रहे तो अन्तर्मुहूर्त रहता है। तथा तू कहेगा कि—मैं आत्मस्वरूपहीका चिंतवन अनेक प्रकार किया करूँगा; सो सामान्य चिंतवनमें तो अनेक प्रकार बनते नहीं हैं, और विशेष करेगा तो द्रव्य-गुण-पर्याय, गुणस्थान, मार्गणा, शुद्ध-अशुद्ध अवस्था इत्यादि विचार होगा। और सुन, केवल आत्मज्ञानहीसे तो

मोक्षमार्ग होता नहीं है। सात तत्त्वोंका श्रद्धान-ज्ञान होनेपर तथा रागादिक दूर करने पर मोक्षमार्ग होगा। सो सात तत्त्वोंके विशेष जाननेको जीव, अजीवके विशेष तथा कर्मके आस्रव, बंधादिकके विशेष अवश्य जानने योग्य हैं, जिनसे सम्यग्दर्शन-ज्ञानकी प्राप्ति हो। और वहाँ पश्चात् रागादिक दूर करना। सो जो रागादिक बढ़ानेके कारण हैं उन्हें छोड़कर जो रागादिक घटानेके कारण हों वहाँ उपयोगको लगाना। सो द्रव्यादिक और गुणस्थानादिकके विचार रागादिक घटानेके कारण हैं। इनमें कोई रागादिकका निमित्त नहीं है। इसलिये सम्यग्दृष्टि होनेके पश्चात् भी यहाँ ही उपयोग लगाना।

फिर वह कहता है—रागादि मिटानेके कारण हों उनमें तो उपयोग लगाना, परन्तु त्रिलोकवर्ती जीवोंकी गति आदिका विचार करना, कर्मके बंध, उदय, सत्तादिके बहुत विशेष जानना तथा त्रिलोकके आकार, प्रमाणादिक जानना—इत्यादि विचार क्या कार्यकारी हैं?

उत्तर:—इनके भी विचार करनेसे रागादिक बढ़ते नहीं हैं, क्योंकि वे ज्ञेय इसको इष्ट-अनिष्टरूप हैं नहीं, इसलिये वर्तमान रागादिकके कारण नहीं हैं। तथा इनको विशेष जाननेसे तत्त्वज्ञान निर्मल हो, इसलिये आगामी रागादिक घटानेको ही कारण हैं, इसलिये कार्यकारी हैं।

फिर वह कहता है—स्वर्ग-नरकादिको जाने वहाँ तो राग-द्वेष होता है?

समाधान:—ज्ञानीके तो ऐसी बुद्धि होती नहीं है, अज्ञानीके होती है। वहाँ पाप छोड़कर पुण्य-कार्यमें लगे वहाँ किंचित् रागादिक घटते ही हैं।

फिर वह कहता है—शास्त्रमें ऐसा उपदेश है कि प्रयोजनभूत थोड़ा ही जानना कार्यकारी है, इसलिये बहुत विकल्प किसलिये करें?

उत्तर:—जो जीव अन्य बहुत जानते हैं और प्रयोजनभूतको नहीं जानते; अथवा जिनकी बहुत जाननेकी शक्ति नहीं है, उन्हें यह उपदेश दिया है। तथा जिसकी बहुत जाननेकी शक्ति हो उससे तो यह नहीं कहा कि बहुत जाननेसे बुरा होगा? जितना बहुत जानेगा उतना प्रयोजनभूत जानना निर्मल होगा। क्योंकि शास्त्रमें ऐसा कहा है—

सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्।

इसका अर्थ यह है—सामान्य शास्त्रसे विशेष बलवान हैं। विशेषसे ही अच्छी तरह निर्णय होता है, इसलिये विशेष जानना योग्य है। तथा वह तपश्चरणको वृथा

क्लेश ठहराता है; सो मोक्षमार्गी होनेपर तो संसारी जीवोंसे उल्टी परिणति चाहिये। संसारियोंको इष्ट-अनिष्ट सामग्रीसे राग-द्वेष होता है, इसके राग-द्वेष नहीं होना चाहिये। वहाँ राग छोड़नेके अर्थ इष्ट सामग्री भोजनादिकका त्यागी होता है और द्वेष छोड़नेके अर्थ अनिष्ट सामग्री अनशनादिको अंगीकार करता है। स्वाधीनरूपसे ऐसा साधन हो तो पराधीन इष्ट-अनिष्ट सामग्री मिलने पर भी राग-द्वेष न हो। सो होना तो ऐसा ही चाहिये, परन्तु तुझे अनशनादिसे द्वेष हुआ, इसलिये उसे क्लेश ठहराया। जब यह क्लेश हुआ, तब भोजन करना सुख स्वयमेव ठहरा और वहाँ राग आया। सो ऐसी परिणति तो संसारियोंके पायी ही जाती है; तूने मोक्षमार्गी होकर क्या किया?

यदि तू कहेगा कि—कितने ही सम्यग्दृष्टि भी तपश्चरण नहीं करते हैं?

उत्तरः—कारण विशेषसे तप नहीं हो सकता, परन्तु श्रद्धानमें तो तपको भला जानते हैं और उसके साधनका उद्यम रखते हैं। तुझे तो श्रद्धान यह है कि—तप करना क्लेश है। तथा तपका तेरे उद्यम नहीं है इसलिये तुझे सम्यग्दृष्टि कैसे हो?

फिर वह कहता है—शास्त्रमें ऐसा कहा है कि—तप आदिका क्लेश करता है तो करो, ज्ञान बिना सिद्धि नहीं है।

उत्तरः—जो जीव तत्त्वज्ञानसे तो पराङ्मुख हैं, तपहीसे मोक्ष मानते हैं, उनको ऐसा उपदेश दिया है, तत्त्वज्ञानके बिना केवल तपहीसे मोक्षमार्ग नहीं होता। तथा तत्त्वज्ञान होनेपर रागादिक मिटानेके अर्थ तप करनेका तो निषेध है नहीं। यदि निषेध हो तो गणधरादिक तप किसलिये करें? इसलिये अपनी शक्ति अनुसार तप करना योग्य है। तथा वह व्रतादिकको बन्धन मानता है, सो स्वच्छन्दवृत्ति तो अज्ञान अवस्थामें ही थी, ज्ञान प्राप्त करने पर तो परिणतिको रोकता ही है। तथा उस परिणतिको रोकनेके अर्थ बाह्य हिंसादिक कारणोंका त्यागी अवश्य होना चाहिये।

फिर वह कहता है—हमारे परिणाम तो शुद्ध हैं; बाह्य त्याग नहीं किया तो नहीं किया?

उत्तरः—यदि यह हिंसादि कार्य तेरे परिणाम बिना स्वयमेव होते हों तो हम ऐसा मानें। और यदि तू अपने परिणामसे कार्य करता है, तो वहाँ तेरे परिणाम शुद्ध कैसे कहें? विषय-सेवनादि क्रिया अथवा प्रमादरूप गमनादि क्रिया परिणाम बिना कैसे हो? वह क्रिया तो स्वयं उद्यमी होकर तू करता है और वहाँ हिंसादिक होते हैं

उन्हें गिनता नहीं है, परिणाम शुद्ध मानता है। सो ऐसी मान्यतासे तेरे परिणाम अशुद्ध हो रहेंगे।

फिर वह कहता है—परिणामोंको रोकें, बाह्य हिंसादिक भी कम करें, परन्तु प्रतिज्ञा करनेमें बन्धन होता है, इसलिये प्रतिज्ञारूप व्रत अंगीकार नहीं करना?

समाधानः—जिस कार्यको करनेकी आशा रहे उसकी प्रतिज्ञा नहीं लेते। और आशा रहे उससे राग रहता है। उस रागभावसे बिना कार्य किये भी अविरतिसे कर्म-बंध होता रहता है; इसलिये प्रतिज्ञा अवश्य करने योग्य है। तथा कार्य करनेका बंधन हुए बिना परिणाम कैसे रुकेंगे? प्रयोजन पड़ने पर तद्रूप परिणाम होंगे ही होंगे, तथा बिना प्रयोजन पड़े उसकी आशा रहती है। इसलिये प्रतिज्ञा करना योग्य है।

फिर वह कहता है—न जाने कैसा उदय आये और बादमें प्रतिज्ञा भंग हो, तो महापाप लगता है। इसलिये प्रारब्ध अनुसार कार्य बने सो बनो, प्रतिज्ञाका विकल्प नहीं करना?

समाधानः—प्रतिज्ञा ग्रहण करते हुए जिसका निर्वाह होता न जाने, वह प्रतिज्ञा तो न करे, प्रतिज्ञा लेते ही यह अभिप्राय रहे कि—प्रयोजन पड़ने पर छोड़ दूँगा, तो वह प्रतिज्ञा क्या कार्यकारी हुई? प्रतिज्ञा ग्रहण करते हुए तो यह परिणाम है कि मरणान्त होनेपर भी नहीं छोड़ूँगा, तो ऐसी प्रतिज्ञा करना युक्त ही है। बिना प्रतिज्ञा किये अविरत सम्बन्धी बंध नहीं मिटता। तथा आगामी उदयके भयसे प्रतिज्ञा न ली जाये, तो उदयको विचारनेसे सर्व ही कर्तव्यका नाश होता है। जैसे—अपनेको पचता जाने उतना भोजन करे। कदाचित् किसीको भोजनसे अजीर्ण हुआ हो, और उस भयसे भोजन करना छोड़ दे, तो मरण ही होगा। उसी प्रकार अपनेसे निर्वाह होता जाने उतनी प्रतिज्ञा करे। कदाचित् किसीके प्रतिज्ञासे भ्रष्टपना हुआ हो, और उस भयसे प्रतिज्ञा करना छोड़ दे तो असंयम ही होगा। इसलिये जो बन सके वही प्रतिज्ञा लेना योग्य है। तथा प्रारब्ध अनुसार तो कार्य बनता ही है, तू उद्यमी होकर भोजनादि किसलिये करता है? यदि वहाँ उद्यम करता है तो त्याग करनेका भी उद्यम करना योग्य ही है। जब प्रतिमावत् तेरी दशा हो जायेगी तब हम प्रारब्ध ही मानेंगे, तेरा कर्तव्य नहीं मानेंगे। इसलिये स्वच्छन्द होनेकी युक्ति किसलिये बनाता है? बने वह प्रतिज्ञा करके व्रत धारण करना योग्य ही है।

[शुभको छोड़कर अशुभमें प्रवर्तना योग्य नहीं है]

तथा वह पूजनादि कार्यको शुभास्रव जानकर हेय मानता है, सो यह सत्य ही है; परन्तु यदि इन कार्योंको छोड़कर शुद्धोपयोगरूप हो तो भला ही है, और विषय-कषायरूप-अशुभरूप प्रवर्ते तो अपना बुरा ही किया। शुभोपयोगसे स्वर्गादि हों अथवा भली वासनासे या भले निमित्तसे कर्मके स्थिति-अनुभाग घट जायें तो सम्यक्त्वादिकी भी प्राप्ति हो जाये। और अशुभोपयोगसे नरक, निगोदादि हों, अथवा बुरी वासनासे या बुरे निमित्तसे कर्मके स्थिति-अनुभाग बढ़ जायें तो सम्यक्त्वादिक महा दुर्लभ हो जायें। तथा शुभोपयोग होनेसे कषाय मन्द होती है और अशुभोपयोग होनेसे तीव्र होती है, सो मंदकषायका कार्य छोड़कर तीव्रकषायका कार्य करना तो ऐसा है जैसे कड़वी वस्तु न खाना और विष खाना। सो यह अज्ञानता है।

फिर वह कहता है—शास्त्रमें शुभ-अशुभको समान कहा है, इसलिये हमें तो विशेष जानना योग्य नहीं है?

समाधान:—जो जीव शुभोपयोगको मोक्षका कारण मानकर उपादेय मानते हैं और शुद्धोपयोगको नहीं पहिचानते, उन्हें शुभ-अशुभ दोनोंको अशुद्धताकी अपेक्षा व बंध कारणकी अपेक्षा समान बतलाया है। तथा शुभ-अशुभका परस्पर विचार करें तो शुभभावोंमें कषाय मन्द होती है, इसलिये बंध हीन होता है, अशुभभावोंमें कषाय तीव्र होती है इसलिये बंध बहुत होता है।—इस प्रकार विचार करने पर अशुभकी अपेक्षा सिद्धान्तमें शुभको भला भी कहा जाता है। जैसे—रोग तो थोड़ा या बहुत बुरा ही है; परन्तु बहुत रोगकी अपेक्षा थोड़े रोगको भला भी कहते हैं। इसलिये शुद्धोपयोग न हो, तब अशुभसे छूटकर शुभमें प्रवर्तन योग्य है, शुभको छोड़कर अशुभमें प्रवर्तन योग्य नहीं है।

फिर वह कहता है—कामादिक या क्षुधादिक मिटानेको अशुभरूप प्रवृत्ति तो हुए बिना रहती नहीं है, और शुभ प्रवृत्ति इच्छा करके करना पड़ती है, ज्ञानीको इच्छा चाहिये नहीं, इसलिये शुभका उद्यम नहीं करना?

उत्तर:—शुभप्रवृत्तिमें उपयोग लगनेसे तथा उसके निमित्तसे विरागता बढ़नेसे कामादिक हीन होते हैं और क्षुधादिकमें भी संक्लेश थोड़ा होता है। इसलिये शुभोपयोगका अभ्यास करना। उद्यम करने पर भी यदि कामादिक व क्षुधादिक पीड़ित करते हैं तो उनके अर्थ जिससे थोड़ा पाप लगे वह करना। परन्तु शुभोपयोगको छोड़कर

निःशंक पापरूप प्रवर्तन करना तो योग्य नहीं है। और तू कहता है—ज्ञानीके इच्छा नहीं है और शुभोपयोग इच्छा करनेसे होता है; सो जिस प्रकार कोई पुरुष किंचित्मात्र भी अपना धन देना नहीं चाहता, परन्तु जहाँ बहुत धन जाता जाने वहाँ अपनी इच्छासे थोड़ा धन देनेका उपाय करता है। उसी प्रकार ज्ञानी किंचित्मात्र भी कषायरूप कार्य नहीं करना चाहता; परन्तु जहाँ बहुत कषायरूप अशुभ कार्य होता जाने वहाँ इच्छा करके अल्प कषायरूप शुभ कार्य करनेका उद्यम करता है। इस प्रकार यह बात सिद्ध हुई कि—जहाँ शुद्धोपयोग होता जाने वहाँ तो शुभकार्यका निषेध ही है, और जहाँ अशुभोपयोग होता जाने वहाँ शुभका उपाय करके अंगीकार करना योग्य है।—इस प्रकार अनेक व्यवहारकार्योंका उत्थापन करके जो स्वच्छन्दपनेको स्थापित करता है, उसका निषेध किया।

[केवल निश्चयाभासके अवलम्बी जीवकी प्रवृत्ति]

अब, उसी केवल निश्चयावलम्बी जीवकी प्रवृत्ति बतलाते हैं :—

एक शुद्धात्माको जाननेसे ज्ञानी हो जाते हैं—अन्य कुछ भी नहीं चाहिये,— ऐसा जानकर कभी एकांतमें बैठकर ध्यान मुद्रा धारण करके 'मैं सर्व कर्मोपाधिरहित सिद्धसमान आत्मा हूँ'—इत्यादि विचारसे सन्तुष्ट होता है; परन्तु यह विशेषण किस प्रकार सम्भव है—ऐसा विचार नहीं है। अथवा अचल, अखण्ड, अनुपमादि विशेषण द्वारा आत्माको ध्याता है, सो यह विशेषण अन्य द्रव्योंमें भी सम्भवित हैं। तथा यह विशेषण किस अपेक्षासे हैं सो विचार नहीं है। तथा कदाचित् सोते, बैठते जिस-तिस अवस्थामें ऐसा विचार रखकर अपनेको ज्ञानी मानता है। तथा ज्ञानीके आस्रव-बन्ध नहीं हैं—ऐसा आगममें कहा है, इसलिये कदाचित् विषय-कषायरूप होता है, वहाँ बन्ध होनेका भय नहीं है, स्वच्छन्द हुआ रागादिरूप प्रवर्तता है। सो स्व-परको जाननेका तो चिह्न वैराग्यभाव है। सो समयसारमें कहा है:—

"सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः।" ×

अर्थः—सम्यग्दृष्टिके निश्चयसे ज्ञान-वैराग्यशक्ति होती है। फिर कहा है—

× सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः, स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्य रूपाप्तिमुक्त्या,
यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च, स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥
(समयसार कलश—१३६)

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोप्याचरन्तु ।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्व शून्याः ÷ ॥१३७॥

अर्थः—स्वयमेव यह मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, मेरे कदाचित् बन्ध नहीं है—इस प्रकार ऊँचा फुलाया है मुँह जिन्होंने—ऐसे रागी वैराग्य शक्ति रहित आचरण करते हैं तो करो, तथा पाँच समितिकी सावधानीका अवलम्बन लेते हैं तो लो, परन्तु वे ज्ञानशक्ति विना आज भी पापी ही हैं। यह दोनों आत्मा-अनात्माके ज्ञानरहितपनेसे सम्यक्त्वरहित ही हैं।

फिर पूछते हैं—परको पर जाना तो परद्रव्योंमें रागादि करनेका क्या प्रयोजन रहा? वहाँ वह कहता है—मोहके उदयसे रागादिक होते हैं। पूर्वकालमें भरतादिक ज्ञानी हुए, उनके भी विषय-कषायरूप कार्य हुआ सुनते हैं?

उत्तरः—ज्ञानीके भी मोहके उदयसे रागादिक होते हैं यह सत्य है, परन्तु बुद्धिपूर्वक रागादिक नहीं होते। उसका विशेष वर्णन आगे करेंगे। तथा जिसके रागादिक होनेका कुछ विषाद नहीं है, उसके नाशका उपाय भी नहीं है, उसको रागादिक बुरे हैं—ऐसा श्रद्धान भी नहीं सम्भवित होता। और ऐसे श्रद्धान विना सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? जीवाजीवादि तत्त्वोंका श्रद्धान करनेका प्रयोजन तो इतना ही श्रद्धान है। तथा भरतादिक सम्यग्दृष्टियोंके विषय-कषायोंकी प्रवृत्ति जैसे होती है वह भी विशेषरूपसे आगे कहेंगे। तू उनके उदाहरणसे स्वच्छन्द होगा तो तुझे तीव्र आस्रव-बन्ध होगा। वही कहा है—

मग्नाः ज्ञाननयैषिणोपि यदि ते स्वच्छन्द मन्दोद्यमाः * ।

अर्थः—ज्ञाननयका अवलोकन करनेवाले भी जो स्वच्छन्द मन्द उद्यमी होते हैं वे संसारमें डूबते हैं। और भी वहाँ "ज्ञानिन कर्म्म न जातु कर्तुमुचितं" इत्यादि कलशमें

÷ समयसार कलशमें "शून्याः" के स्थान पर "रिक्ताः" पाठ है।

* मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये।
मग्नाः ज्ञाननयैषिणोपि यदि ते स्वच्छन्दमन्दोद्यमाः॥
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं।
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च॥
(–समयसार कलश—१११)

तथा—"तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिन:"—इत्यादि कलशमें स्वच्छन्दी होनेका निषेध किया है। बिना इच्छाके जो कार्य हो वह कर्मबन्धका कारण नहीं है। अभिप्रायसे कर्ता होकर करे और ज्ञाता रहे यह तो बनता नहीं है—इत्यादि निरूपण किया है। इसलिये रागादिकको बुरे—अहितकारी जानकर उनके नाशके अर्थ उद्यम रखना। वहाँ अनुक्रमसे पहले तीव्र रागादि छोड़नेके अर्थ अशुभ कार्य छोड़कर शुभमें लगना, और पश्चात् मन्दरागादि भी छोड़नेके अर्थ शुभको भी छोड़कर शुद्धोपयोगरूप होना।

तथा कितने ही जीव अशुभमें क्लेश मानकर व्यापारादि कार्य व स्त्री सेवनादि कार्योंको भी घटाते हैं, तथा शुभको हेय जानकर शास्त्राभ्यासादि कार्योंमें नहीं प्रवर्तते हैं। वीतरागभावरूप शुद्धोपयोगको प्राप्त हुए नहीं हैं, इसलिये वे जीव अर्थ, काम, धर्म, मोक्षरूप पुरुषार्थसे रहित होते हुए आलसी–निरुद्यमी होते हैं। उनकी निन्दा पंचास्तिकायकी व्याख्यामें की है। उनके लिये दृष्टान्त दिया है कि—जैसे बहुत खीर-शक्कर खाकर पुरुष आलसी होता है व जैसे वृक्ष निरुद्यमी हैं, वैसे वे जीव आलसी–निरुद्यमी हुए हैं।

अब इनसे पूछते हैं कि—तुमने बाह्य तो शुभ-अशुभ कार्योंको घटाया, परन्तु उपयोग तो बिना आलम्बनके रहता नहीं है; तो तुम्हारा उपयोग कहाँ रहता है? सो कहो। यदि वह कहे कि—आत्माका चिंतवन करता है; तो शास्त्रादि द्वारा अनेक प्रकारसे आत्माके विचारको तो तुमने विकल्प ठहराया, और आत्माका कोई विशेषण जाननेमें बहुत काल लगता नहीं है, बारम्बार एकरूप चिंतवनमें छद्मस्थका उपयोग लगता नहीं है, गणधरादिकका भी उपयोग इस प्रकार नहीं रह सकता, इसलिये वे भी शास्त्रादि कार्योंमें प्रवर्तते हैं, तेरा उपयोग गणधरादिकसे भी कैसे शुद्ध हुआ मानें? इसलिये तेरा कहना प्रमाण नहीं है। जैसे कोई व्यापारादिमें निरुद्यमी होकर निठल्ला जैसे-तैसे काल गँवाता है, उसी प्रकार तू धर्ममें निरुद्यमी होकर प्रमाद सहित यों ही काल गँवाता है। कभी कुछ चिंतवन-सा करता है, कभी बातें बनाता है, कभी भोजनादि करता है, परन्तु अपना उपयोग निर्मल करनेके लिये शास्त्राभ्यास, तपश्चरण, भक्ति आदि कार्योंमें नहीं प्रवर्तता। सूना-सा होकर प्रमादी होनेका नाम शुद्धोपयोग ठहराता है। वहाँ क्लेश थोड़ा होनेसे जैसे कोई आलसी बनकर पड़े रहनेमें सुख माने वैसे आनन्द मानता है। अथवा जैसे कोई स्वप्नमें अपनेको राजा मानकर सुखी हो, उसी प्रकार अपनेको भ्रमसे सिद्ध समान शुद्ध मानकर स्वयं ही आनन्दित होता है। अथवा जैसे कहीं रति मानकर सुखी

होता है, उसी प्रकार कुछ विचार करनेमें रति मानकर सुखी होता है, उसे अनुभव जनित आनन्द कहता है। तथा जैसे कहीं अरति मानकर उदास होता है, उसी प्रकार व्यापारादिक, पुत्रादिकको खेदका कारण जानकर उनसे उदास रहता है और उसे वैराग्य मानता है; सो ऐसा ज्ञान–वैराग्य तो कषाय गर्भित है। वीतरागरूप उदासीन दशामें जो निराकुलता होती है, वह सच्चा आनन्द, ज्ञान, वैराग्य ज्ञानी जीवोंके चारित्र-मोहकी हीनता होनेपर प्रगट होता है। तथा वह व्यापारादिक क्लेश छोड़कर यथेष्ट भोजनादि द्वारा सुखी हुआ प्रवर्तता है और वहाँ अपनेको कषायरहित मानता है, परंतु इस प्रकार आनन्दरूप होनेसे तो रौद्रध्यान होता है। जहाँ सुखसामग्रीको छोड़कर दुःखसामग्रीका संयोग होनेपर संक्लेश न हो, राग-द्वेष उत्पन्न न हों, तब निःकषायभाव होता है।—ऐसी भ्रमरूप उनकी प्रवृत्ति पायी जाती है। इस प्रकार जो जीव केवल निश्चयाभासके अवलम्बी हैं उन्हें मिथ्यादृष्टि जानना। जैसे–वेदान्ती व सांख्यमती जीव केवल शुद्धात्माके श्रद्धानी हैं, उसी प्रकार इन्हें भी जानना। क्योंकि श्रद्धानकी समानताके कारण उनका उपदेश इन्हें इष्ट लगता है, इनका उपदेश उन्हें इष्ट लगता है।

[स्वद्रव्य-परद्रव्यके चिंतवनसे निर्जरा, बंध नहीं है।
रागादिकके घटनेसे निर्जरा और रागादिक होनेसे बंध है]

तथा उन जीवोंको ऐसा श्रद्धान है कि—केवल शुद्धात्माके चिंतवनसे तो संवर-निर्जरा होते हैं व मुक्तात्माके सुखका अंश वहाँ प्रगट होता है। तथा जीवके गुण-स्थानादि अशुद्ध भावोंका और अपने अतिरिक्त अन्य जीव-पुद्गलादिका चिंतवन करनेसे आस्रव-बन्ध होता है, इसलिये अन्य विचारसे पराङ्मुख रहते हैं। सो यह भी सत्यश्रद्धान नहीं है, क्योंकि शुद्ध स्वद्रव्यका चिंतवन करो या अन्य चिंतवन करो; यदि वीतरागतासहित भाव हों तो वहाँ संवर-निर्जरा ही है और जहाँ रागादिरूप भाव हों वहाँ आस्रव-बन्ध ही है। यदि परद्रव्यको जाननेसे ही आस्रव-बन्ध होते हों, तो केवली तो समस्त परद्रव्योंको जानते हैं, इसलिये उनके भी आस्रव-बन्ध होंगे।

फिर वह कहता है कि—छद्मस्थके तो परद्रव्य चिंतवनसे आस्रव-बन्ध होता है?—सो भी नहीं है, क्योंकि शुक्लध्यानमें भी मुनियोंको छहों द्रव्योंके द्रव्य-गुण–पर्यायोंका चिंतवन होनेका निरूपण किया है, और अवधि-मनःपर्यय आदिमें परद्रव्यको जाननेहीकी विशेषता होती है। तथा चौथे गुणस्थानमें कोई अपने स्वरूपका चिंतवन

करता है उसके भी आस्रव-बंध अधिक हैं तथा गुणश्रेणी निर्जरा नहीं है। पाँचवें-छट्ठे गुणस्थानमें आहार विहारादि क्रिया होनेपर परद्रव्य चिंतवनसे भी आस्रव-बंध थोड़ा है और गुणश्रेणी निर्जरा होती रहती है। इसलिये स्वद्रव्य-परद्रव्यके चिंतवनसे निर्जरा-बन्ध नहीं होते, रागादिक घटनेसे निर्जरा है और रागादिक होनेसे बन्ध है। उसे रागादिके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान नहीं है, इसलिये अन्यथा मानता है।

[निर्विकल्प दशा–विचार]

अब वह पूछता है कि—ऐसा है तो निर्विकल्प अनुभवदशामें नय-प्रमाण–निक्षेपादिकके तथा दर्शन-ज्ञानादिकके भी विकल्पोंका निषेध किया है—सो किस प्रकार है ?

उत्तरः—जो जीव इन्हीं विकल्पोंमें लग रहे हैं और अभेदरूप एक आत्माका अनुभव नहीं करते उन्हें ऐसा उपदेश दिया है कि—यह सर्व विकल्प वस्तुका निश्चय करनेमें कारण हैं, वस्तुका निश्चय होनेपर इनका प्रयोजन कुछ नहीं रहता। इसलिये इन विकल्पोंको भी छोड़कर अभेदरूप एक आत्माका अनुभवन करना। इनके विचार-रूप विकल्पोंमें ही फँसा रहना योग्य नहीं है। तथा वस्तुका निश्चय होनेके पश्चात् ऐसा नहीं है कि सामान्यरूप स्वद्रव्यहीका चिंतवन रहा करे। स्वद्रव्यका तथा परद्रव्यका सामान्यरूप और विशेषरूप जानना होता है, परन्तु वीतरागतासहित होता है, उसीका नाम निर्विकल्पदशा है।

वहाँ वह पूछता है—यहाँ तो बहुत विकल्प हुए, निर्विकल्प संज्ञा कैसे संभव है ?

उत्तरः—निर्विचार होनेका नाम निर्विकल्प नहीं है। क्योंकि छद्मस्थके जानना विचारसहित है; उसका अभाव माननेसे ज्ञानका अभाव होगा और तब जड़-पना हुआ, सो आत्माके होता नहीं है। इसलिये विचार तो रहता है। तथा यह कहें कि—एक सामान्यका ही विचार रहता है, विशेषका नहीं। तो सामान्यका विचार तो बहुतकाल रहता नहीं है व विशेषकी अपेक्षा बिना सामान्यका स्वरूप भासित नहीं होता। तथा यह कहें कि—अपना ही विचार रहता है, परका नहीं; तो परमें पर-बुद्धि हुए बिना अपनेमें निजबुद्धि कैसे आये ? वहाँ वह कहता है—समयसारमें ऐसा कहा है कि—

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥

(कलश–१३०)

अर्थः—भेदज्ञानको तब तक निरंतर भाना, जब तक परसे छूटकर ज्ञान ज्ञानमें स्थित हो। इसलिये भेदविज्ञान छूटनेपर परका जानना मिट जाता है, केवल आपहीको आप जानता रहता है।

यहाँ तो यह कहा है कि—पूर्वकालमें स्व-परको एक जानता था; फिर भिन्न जाननेके लिये भेदज्ञानको तब तक भाना ही योग्य है जब तक ज्ञान पररूपको भिन्न जानकर अपने ज्ञानस्वरूपहीमें निश्चित् हो जाये। पश्चात् भेदविज्ञान करनेका प्रयोजन नहीं रहता; स्वयमेव परको पररूप और आपको आपरूप जानता रहता है। ऐसा नहीं है कि परद्रव्यका जानना ही मिट जाता है। इसलिये परद्रव्यको जानने या स्वद्रव्यके विशेषोंको जाननेका नाम विकल्प नहीं है। तो किस प्रकार है? सो कहते हैं—राग-द्वेषवश किसी ज्ञेयको जाननेमें उपयोग लगाना और किसी ज्ञेयके जाननेसे छुड़ाना—इस प्रकार बारम्बार उपयोगको भ्रमाना—उसका नाम विकल्प है। तथा जहाँ वीतराग-रूप होकर जिसे जानते हैं उसे यथार्थ जानते हैं, अन्य-अन्य ज्ञेयको जाननेके अर्थ उप-योगको भ्रमाते नहीं हैं, वहाँ निर्विकल्पदशा जानना।

यहाँ कोई कहे कि—छद्मस्थका उपयोग तो नाना ज्ञेयोंमें भ्रमता ही भ्रमता है; वहाँ निर्विकल्पता कैसे सम्भव है?

उत्तरः—जितने काल एक जाननेरूप रहे तब तक निर्विकल्प नाम पाता है। सिद्धान्तमें ध्यानका लक्षण ऐसा ही किया है—"एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्।"

(तत्त्वार्थ सूत्र ९-२७)

एकका मुख्य चिंतवन हो और अन्य चिन्ता रुक जाये—उसका नाम ध्यान है। सर्वार्थसिद्धि सूत्रकी टीकामें यह विशेष कहा है—यदि सर्व चिंता रुकनेका नाम ध्यान हो, तो अचेतनपना आ जाये। तथा ऐसी भी विवक्षा है कि—सन्तान अपेक्षा नाना ज्ञेयोंका भी जानना होता है, परन्तु जब तक वीतरागता रहे, रागादिसे आप उपयोगको न भ्रमाये तब तक निर्विकल्पदशा कहते हैं।

फिर वह कहता है—ऐसा है तो परद्रव्यसे छुड़ाकर स्वरूपमें उपयोग लगाने-का उपदेश किसलिये दिया है?

समाधानः—जो शुभ-अशुभ भावोंके कारण परद्रव्य हैं, उनमें उपयोग लगनेसे जिनको राग-द्वेष हो आते हैं, और स्वरूप चिंतवन करें तो जिनके राग-द्वेष घटते हैं—

ऐसे निचली अवस्थावाले जीवोंको पूर्वोक्त उपदेश है। जैसे कोई स्त्री विकारभावसे पराये घर जाती थी; उसे मना किया कि पराये घर मत जा, घरमें बैठी रह। तथा जो स्त्री निर्विकार भावसे किसीके घर जाकर यथायोग्य प्रवर्ते तो कुछ दोष है नहीं। उसी प्रकार उपयोगरूप परिणति राग-द्वेषभावसे परद्रव्योंमें प्रवर्तती थी; उसे मना किया कि—परद्रव्योंमें प्रवर्तन मत कर, स्वरूपमें मग्न रह। तथा जो उपयोगरूप परिणति वीतरागभावसे परद्रव्यको जानकर यथा योग्य प्रवर्ते तो कुछ दोष है नहीं।

फिर वह कहता है—ऐसा है तो महामुनि परिग्रहादिक चिंतवनका त्याग किसलिये करते हैं ?

समाधानः—जैसे विकाररहित स्त्री कुशीलके कारण पराये घरोंका त्याग करती है, उसी प्रकार वीतराग परिणति राग-द्वेषके कारण परद्रव्योंका त्याग करती है। तथा जो व्यभिचारके कारण नहीं हैं ऐसे पराये घरोंमें जानेका त्याग है नहीं, उसी प्रकार जो राग-द्वेषके कारण नहीं हैं ऐसे परद्रव्योंको जाननेका त्याग है नहीं।

फिर वह कहता है—जैसे, जो स्त्री प्रयोजन जानकर पितादिकके घर जाती है तो जाये, विना प्रयोजन जिस-तिसके घर जाना तो योग्य नहीं है। उसी प्रकार परिणतिको प्रयोजन जानकर सात तत्त्वोंका विचार करना, विना प्रयोजन गुणस्थानादिकका विचार करना योग्य नहीं है ?

समाधानः—जैसे स्त्री प्रयोजन जानकर पितादिक या मित्रादिकके भी घर जाये, उसी प्रकार परिणति तत्त्वोंके विशेष जाननेके कारण गुणस्थानादिक व कर्मादिकको भी जाने। तथा यहाँ ऐसा जानना कि—जैसे शीलवती स्त्री उद्यमपूर्वक तो विट पुरुषोंके स्थानपर न जाये, यदि परवश वहाँ जाना वन जाये, और वहाँ कुशील सेवन न करे तो स्त्री शीलवती ही है। उसी प्रकार वीतराग परिणति उपाय पूर्वक तो रागादिकके कारण परद्रव्योंमें न लगे, यदि स्वयमेव उनका जानना हो जाये और वहाँ रागादिक न करे तो परिणति शुद्ध ही है। इसलिये मुनियोंको स्त्री आदिके परीषह होनेपर उनको जानते ही नहीं, अपने स्वरूपका ही जानना रहता है—ऐसा मानना मिथ्या है। उनको जानते तो हैं परन्तु रागादिक नहीं करते। इस प्रकार परद्रव्यको जानते हुए भी वीतरागभाव होता है—ऐसा श्रद्धान करना।

तथा वह कहता है—ऐसा है तो शास्त्रमें ऐसा कैसे कहा है कि आत्माका श्रद्धान-ज्ञान-आचरण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है ?

समाधान:—अनादिसे परद्रव्यमें आपरूप श्रद्धान-ज्ञान-आचरण था; उसे छुड़ानेके लिये यह उपदेश है। अपनेहीमें आपरूप श्रद्धान-ज्ञान-आचरण होनेसे परद्रव्यमें राग-द्वेषादि परिणति करनेका श्रद्धान व ज्ञान व आचरण मिट जाये तब सम्यग्दर्शनादि होते हैं। यदि परद्रव्यका परद्रव्यरूप श्रद्धानादि करनेसे सम्यग्दर्शनादि न होते हों तो केवलीके भी उनका अभाव हो। जहाँ परद्रव्यको बुरा जानना, निजद्रव्यको भला जानना हो, वहाँ तो रागद्वेष सहज ही हुए। जहाँ आपको आपरूप और परको पररूप यथार्थ जानता रहे, वैसे ही श्रद्धानादिरूप प्रवर्तन करे, तभी सम्यग्दर्शनादि होते हैं—ऐसा जानना। इसलिये बहुत क्या कहें, जिस प्रकारसे रागादि मिटानेका श्रद्धान हो वही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। जिस प्रकारसे रागादि मिटानेका जानना हो वही जानना सम्यग्ज्ञान है। तथा जिस प्रकारसे रागादि मिटें वही आचरण सम्यक्चारित्र है। ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है। इस प्रकार निश्चयनयके आभास सहित एकान्त पक्षके धारी जैनाभासोंके मिथ्यात्वका निरूपण किया।

[व्यवहाराभासपक्षके धारक जैनाभास]

अब, व्यवहाराभासपक्षके धारक जैनाभासोंके मिथ्यात्वका निरूपण करते हैं—जिनागममें जहाँ व्यवहारकी मुख्यतासे उपदेश है, उसे मानकर बाह्यसाधनादिकहीका श्रद्धानादिक करते हैं उनके सर्व धर्मके अंग अन्यथारूप होकर मिथ्याभावको प्राप्त होते हैं—सो विशेष कहते हैं। यहाँ ऐसा जान लेना कि व्यवहारधर्मकी प्रवृत्तिसे पुण्यबन्ध होता है, इसलिये पापप्रवृत्तिकी अपेक्षा तो इसका निषेध है नहीं; परन्तु यहाँ जो जीव व्यवहार प्रवृत्तिहीसे सन्तुष्ट होकर सच्चे मोक्षमार्गमें उद्यमी नहीं होते हैं उन्हें मोक्षमार्गमें सन्मुख करनेके लिये उस शुभरूप मिथ्याप्रवृत्तिका भी निषेधरूप निरूपण करते हैं। यह जो कथन करते हैं उसे सुनकर यदि शुभप्रवृत्ति छोड़ अशुभमें प्रवृत्ति करोगे, तब तो तुम्हारा बुरा होगा, और यदि यथार्थ श्रद्धान करके मोक्षमार्गमें प्रवर्तन करोगे तो तुम्हारा भला होगा। जैसे कोई रोगी निर्गुण औषधिका निषेध सुनकर औषधि साधनको छोड़कर कुपथ्यकरे तो वह मरेगा, उसमें वैद्यका कुछ दोष नहीं है। उसी प्रकार कोई संसारी पुण्यरूप धर्मका निषेध सुनकर धर्मसाधन छोड़ विषय कषायरूप प्रवर्तन करेगा तो वही नरकादिमें दुःख पायेगा। उपदेशदाताका तो दोष है नहीं। उपदेश देनेवालेका अभिप्राय तो असत्य श्रद्धानादि छुड़ाकर मोक्षमार्गमें लगानेका जानना। सो ऐसे अभिप्रायसे यहाँ निरूपण करते हैं।

[कुल अपेक्षा धर्म-विचार]

वहाँ कोई जीव तो कुलक्रमसे ही जैनी हैं, जैनधर्मका स्वरूप जानते नहीं, परन्तु कुलमें जैसी प्रवृत्ति चली आयी है वैसे प्रवर्तते हैं। वहाँ जिस प्रकार अन्यमती अपने कुलधर्ममें प्रवर्तते हैं उसी प्रकार यह प्रवर्तते हैं। यदि कुलक्रमहीसे धर्म हो तो मुसलमान आदि सभी धर्मात्मा हो जायें। जैनधर्मकी विशेषता क्या रही? वही कहा है—

लोयम्मि रायणीई णायं ण कुलकम्मि कइयावि।
किं पुण तिलोय पहुणो जिणंदधम्माहिगारम्मि ॥ १ ॥
(उप० सि० र० गा० ७)

अर्थ:—लोकमें यह राजनीति है कि कदाचित् कुलक्रमसे न्याय नहीं होता है। जिसका कुल चोर हो, उसे चोरी करते पकड़लें तो उसका कुलक्रम जानकर छोड़ते नहीं हैं, दण्ड ही देते हैं। तो त्रिलोकप्रभु जिनेन्द्रदेवके धर्मके अधिकारमें क्या कुलक्रमानुसार न्याय संभव है? तथा यदि पिता दरिद्री हो और आप धनवान हो, तब वहाँ तो कुलक्रमका विचार करके आप दरिद्री रहता ही नहीं, तो धर्ममें कुलका क्या प्रयोजन है? तथा पिता नरकमें जाये और पुत्र मोक्ष जाता है, वहाँ कुलक्रम कैसे रहा? यदि कुलपर दृष्टि हो तो पुत्र भी नरकगामी होना चाहिये। इसलिये धर्ममें कुलक्रमका कुछ भी प्रयोजन नहीं है। शास्त्रोंका अर्थ विचारकर यदि कालदोषसे जिनधर्ममें भी पापी पुरुषों द्वारा कुदेव-कुगुरु-कुधर्म सेवनादिरूप तथा विषयकषाय पोषणादिरूप विपरीत प्रवृत्ति चलायी गई हो, तो उसका त्याग करके जिनआज्ञानुसार प्रवर्तन करना योग्य है।

यहाँ कोई कहे कि—परम्परा छोड़कर नवीन मार्गमें प्रवर्तन करना योग्य नहीं है। उससे कहते हैं—

यदि अपनी बुद्धिसे नवीन मार्ग पकड़े तो योग्य नहीं है। जो परम्परा अनादिनिधन जैनधर्मका स्वरूप शास्त्रोंमें लिखा है, उसकी प्रवृत्ति मिटाकर पापी पुरुषोंने बीचमें अन्यथा प्रवृत्ति चलायी हो, उसे परम्परा मार्ग कैसे कहा जासकता है? तथा उसे छोड़कर पुरातन जैन शास्त्रोंमें जैसा धर्म लिखा था, वैसे प्रवर्तन करे तो उसे नवीन मार्ग कैसे कहा जासकता है? तथा यदि कुलमें जैसी जिनदेवकी आज्ञा है, उसी प्रकार धर्मकी प्रवृत्ति है तो अपनेको भी वैसे ही प्रवर्तन करना योग्य है; परन्तु उसे कुलाचार

न जान धर्म जानकर, उसके स्वरूप, फलादिकका निश्चय करके अंगीकार करना। जो सच्चे भी धर्मको कुलाचार जानकर प्रवर्तता है तो उसे धर्मात्मा नहीं कहते; क्योंकि सर्व कुलके उस आचरणको छोड़ दें तो आप भी छोड़ देगा। तथा वह जो आचरण करता है सो कुलके भयसे करता है, कुछ धर्म बुद्धिसे नहीं करता, इसलिये वह धर्मात्मा नहीं है। इसलिये विवाहादि कुलसम्बन्धी कार्योंमें तो कुलक्रमका विचार करना, परन्तु धर्म सम्बन्धी कार्यमें कुलका विचार नहीं करना। जैसा धर्म मार्ग सच्चा है उसी प्रकार प्रवर्तन करना योग्य है।

[परीक्षारहित आज्ञानुसारी जैनत्वका प्रतिषेध]

तथा कितने ही आज्ञानुसारी जैनी होते हैं। जैसी शास्त्रमें आज्ञा है उस प्रकार मानते हैं, परन्तु आज्ञाकी परीक्षा करते नहीं। यदि आज्ञा ही मानना धर्म हो तो सर्व मतवाले अपने-अपने शास्त्रकी आज्ञा मानकर धर्मात्मा होजायें इसलिये परीक्षा करके जिनवचनकी सत्यता पहिचानकर जिनआज्ञा मानना योग्य है। बिना परीक्षा किये सत्य-असत्यका निर्णय कैसे हो? और बिना निर्णय किये जिस प्रकार अन्यमती अपने शास्त्रोंकी आज्ञा मानते हैं उसी प्रकार इसने जैनशास्त्रोंकी आज्ञा मानी। यह तो पक्षसे आज्ञा मानना है।

कोई कहे कि—शास्त्रमें दसप्रकारके सम्यक्त्वमें आज्ञा सम्यक्त्व कहा है व आज्ञाविचय धर्मध्यानका भेद कहा है व निःशंकित अंगमें जिनवचनमें संशयका निषेध किया है, वह किस प्रकार है?

समाधानः—शास्त्रोंमें कितने ही कथन तो ऐसे हैं जिनकी प्रत्यक्ष–अनुमानादि द्वारा परीक्षा कर सकते हैं, तथा कई कथन ऐसे हैं जो प्रत्यक्ष–अनुमानादि गोचर नहीं हैं, इसलिये आज्ञाहीसे प्रमाण होते हैं। वहाँ नाना शास्त्रोंमें जो कथन समान हों उनकी तो परीक्षा करनेका प्रयोजन ही नहीं है; परन्तु जो कथन परस्पर विरुद्ध हों उनमेंसे जो कथन प्रत्यक्ष–अनुमानादि गोचर हों उनकी तो परीक्षा करना। वहाँ जिन-शास्त्रोंके कथनकी प्रमाणता ठहरे, उन शास्त्रोंमें जो प्रत्यक्ष–अनुमानगोचर नहीं हैं—ऐसे कथन किये हों, उनकी भी प्रमाणता करना। तथा जिन शास्त्रोंके कथनकी प्रमाणता न ठहरे उनके सर्व ही कथनकी अप्रमाणता मानना।

यहाँ कोई कहे कि—परीक्षा करने पर कोई कथन किसी शास्त्रमें प्रमाण भासित हो, तथा कोई कथन किसी शास्त्रमें प्रमाण भासित हो, तब क्या करें?

समाधानः—जो आप्त-भासित शास्त्र हैं, उनमें कोई भी कथन प्रमाण विरुद्ध नहीं होते। क्योंकि या तो जानपना ही न हो, अथवा रागद्वेष हों तब असत्य कहें, सो आप्त ऐसे होते नहीं, तूने परीक्षा भलेप्रकार नहीं की, इसलिये भ्रम है।

फिर वह कहता है—छद्मस्थसे अन्यथा परीक्षा हो जाये, तो वह क्या करे ?

समाधानः—सच्ची-झूठी दोनों वस्तुओंको कसनेसे और प्रमाद छोड़कर परीक्षा करनेसे तो सच्ची ही परीक्षा होती है। जहाँ पक्षपातके कारण भलेप्रकार परीक्षा न करे, वहीं अन्यथा परीक्षा होती है।

तथा वह कहता है कि—शास्त्रोंमें परस्पर विरुद्ध कथन तो बहुत हैं, किन-किनकी परीक्षा की जाये ?

समाधानः—मोक्षमार्गमें देव-गुरु-धर्म, जीवादितत्त्व व बन्ध-मोक्षमार्ग प्रयोजनभूत हैं, सो इनकी परीक्षा कर लेना। जिन शास्त्रोंमें यह सच्चे कहे हों उनकी सर्व आज्ञा मानना, जिनमें यह अन्यथा प्ररूपित किये हों उनकी आज्ञा नहीं मानना। जैसे—लोकमें जो पुरुष प्रयोजनभूत कार्योंमें झूठ न बोले, वह प्रयोजनरहित कार्योंमें कैसे झूठ बोलेगा ? उसी प्रकार जिस शास्त्रमें प्रयोजनभूत देवादिकका स्वरूप अन्यथा नहीं कहा, उसमें प्रयोजनरहित द्वीप-समुद्रादिकका कथन अन्यथा कैसे होगा ? क्योंकि देवादिकका कथन अन्यथा करनेसे वक्ताके विषय-कषायका पोषण होता है।

प्रश्नः—देवादिकका अन्यथा कथन तो विषय-कषायवश किया, परन्तु उन्हीं शास्त्रोंमें अन्य कथन अन्यथा किसलिये किये ?

समाधानः—यदि एक ही कथन अन्यथा करे तो उसका अन्यथापना शीघ्र प्रगट हो जायेगा और भिन्न पद्धति ठहरेगी नहीं; इसलिये बहुत कथन अन्यथा करनेसे भिन्न पद्धति ठहरेगी। वहाँ तुच्छ बुद्धि भ्रममें पड़ जाते हैं कि—यह भी मत है, यह भी मत है। इसलिये प्रयोजनभूतका अन्यथापना मिलाने अर्थ अप्रयोजनभूत कथन भी अन्यथा बहुत किये हैं। तथा प्रतीति करानेके अर्थ कोई-कोई सच्चे कथन भी किये हैं। परन्तु जो चतुर हो सो भ्रममें नहीं पड़ता। प्रयोजनभूत कथनकी परीक्षा करके जहाँ सत्य भासित हो, उस मतकी सर्व आज्ञा माने। सो परीक्षा करने पर जैनमत ही सत्य भासित होता है—अन्य नहीं; क्योंकि इसके वक्ता सर्वज्ञ-वीतराग हैं, वे झूठ किसलिये कहेंगे ? इस प्रकार जिनआज्ञा माननेसे जो सच्चा श्रद्धान हो, उसका नाम आज्ञा-सम्यक्त्व है। और वहाँ एकाग्र चिंतवन होनेसे उसीका नाम आज्ञाविचय धर्मध्यान

है। यदि ऐसा न मानें और विना परीक्षा किये ही आज्ञा माननेसे सम्यक्त्व व धर्मध्यान हो जाये, तो जो द्रव्यलिंगी आज्ञा मानकर मुनि हुए, आज्ञानुसार साधन द्वारा ग्रैवेयक पर्यंत जाते हैं, उनके मिथ्यादृष्टिपना कैसे रहा ? इसलिये कुछ परीक्षा करके आज्ञा मानने पर ही सम्यक्त्व व धर्मध्यान होता है। लोकमें भी किसी प्रकार परीक्षा होनेपर ही पुरुषकी प्रतीति करते हैं।

तथा तूने कहा कि—जिनवचनमें संशय करनेसे सम्यक्त्वके शंका नामक दोष होता है; सो "न जाने यह किस प्रकार है"—ऐसा मानकर निर्णय न करे वहाँ शंका नामक दोष होता है। तथा यदि निर्णय करनेका विचार करते ही सम्यक्त्वमें दोष लगता हो तो अष्टसहस्रीमें आज्ञाप्रधानसे परीक्षाप्रधानको उत्तम किसलिये कहा ? पृच्छना आदि स्वाध्यायके अंग कैसे कहे ? प्रमाण-नयसे पदार्थोंका निर्णय करनेका उपदेश किसलिये दिया ? इसलिये परीक्षा करके आज्ञा मानना योग्य है। तथा कितने ही पापी पुरुषोंने अपने कल्पित कथन किये हैं और उन्हें जिनवचन ठहराया है, उन्हें जैनमतके शास्त्र जानकर प्रमाण नहीं करना। वहाँ भी प्रमाणादिकसे परीक्षा करके, व परस्पर शास्त्रोंसे विधि मिलाकर, व इस प्रकार सम्भव है या नहीं—ऐसा विचार करके विरुद्ध अर्थको मिथ्या ही जानना। जैसे किसी ठगने स्वयं पत्र लिखकर उसमें लिखनेवालेका नाम किसी साहूकारका रखा; उस नामके भ्रमसे धनको ठगाये तो दरिद्री होगा। उसी प्रकार पापी लोगोंने स्वयं ग्रन्थादि बनाकर वहाँ कर्त्ताका नाम जिन, गणधर आचार्योंका रखा। उस नामके भ्रमसे झूठा श्रद्धान करे, तो मिथ्यादृष्टि ही होगा।

तथा वह कहता है—गोम्मटसार* में ऐसा कहा है कि—सम्यग्दृष्टि जीव अज्ञानी गुरुके निमित्तसे झूठ भी श्रद्धान करे, तो आज्ञा माननेसे सम्यग्दृष्टि ही है।—सो यह कथन कैसे किया ?

उत्तरः—जो प्रत्यक्ष-अनुमानादिगोचर नहीं हैं, और सूक्ष्मपनेसे जिनका निर्णय नहीं हो सकता उनकी अपेक्षा यह कथन है; परन्तु मूलभूत-देव-गुरु-धर्मादि तथा तत्त्वादिकका अन्यथा श्रद्धान होनेपर तो सर्वथा सम्यक्त्व रहता नहीं है—यह निश्चय करना। इसलिये विना परीक्षा किये केवल आज्ञा ही द्वारा जो जैनी हैं उन्हें भी मिथ्यादृष्टि जानना। तथा कितने ही परीक्षा करके भी जैनी होते हैं, परन्तु मूल परीक्षा

* सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥ २७ ॥ (जीवकाण्ड)

नहीं करते। दया, शील, तप, संयमादि क्रियाओं द्वारा, व पूजा, प्रभावनादि कार्योंसे, व अतिशय चमत्कारादिसे व जिनधर्मसे इष्ट प्राप्ति होनेके कारण जिनमतको उत्तम जानकर, प्रीतिवंत होकर जैनी होते हैं। सो अन्यमतोंमें भी ये कार्य तो पाये जाते हैं; इसलिये इन लक्षणोंमें तो अतिव्याप्ति पाया जाता है।

कोई कहे—जैसे जिनधर्ममें ये कार्य हैं, वैसे अन्यमतोंमें नहीं पाये जाते, इसलिये अतिव्याप्ति नहीं है ?

समाधानः—यह तो सत्य है, ऐसा ही है। परन्तु जैसे तू दयादिक मानता है उसी प्रकार तो वे भी निरूपण करते हैं। पर जीवोंकी रक्षाको दया तू कहता है, वही वे कहते हैं। इसी प्रकार अन्य जानना।

फिर वह कहता है—उनके ठीक नहीं है; क्योंकि कभी दया प्ररूपित करते हैं, कभी हिंसा प्ररूपित करते हैं ?

उत्तरः—वहाँ दयादिकका अंशमात्र तो आया; इसलिये अतिव्याप्तिपना इन लक्षणोंके पाया जाता है। इनके द्वारा सच्ची परीक्षा होती नहीं। तो कैसे होती है ? जिनधर्ममें सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको मोक्षमार्ग कहा है। वहाँ सच्चे देवादिक व जीवादिकका श्रद्धान करनेसे सम्यक्त्व होता है, व उनको जाननेसे सम्यग्ज्ञान होता है व वास्तवमें रागादिक मिटने पर सम्यक्चारित्र होता है। सो इनके स्वरूपका जैसा जिनमतमें निरूपण किया है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं किया, तथा जैनीके सिवा अन्यमती ऐसा कार्य कर नहीं सकते। इसलिये यह जिनमतका सच्चा लक्षण है। इस लक्षणको पहिचानकर जो परीक्षा करते हैं वे ही श्रद्धानी हैं। इसके सिवा जो अन्य प्रकारसे परीक्षा करते हैं वे मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं।

तथा कितने ही संगतिसे जैनधर्म धारण करते हैं; कितने ही महान पुरुषको जिनधर्ममें प्रवर्तता देख आप भी प्रवर्तते हैं, कितने ही देखादेखी जिनधर्मकी शुद्ध या अशुद्ध क्रियाओंमें प्रवर्तते हैं।—इत्यादि अनेक प्रकारके जीव आप विचारकर जिनधर्मका रहस्य नहीं पहिचानते और जैनी नाम धारण करते हैं—वे सब मिथ्यादृष्टि ही जानना। इतना तो है कि जिनमतमें पापकी प्रवृत्ति विशेष नहीं हो सकती और पुण्यके निमित्त बहुत हैं, तथा सच्चे मोक्षमार्गके कारण भी वहाँ बने रहते हैं। इसलिये जो कुलादिसे भी जैनी हैं, वे भी औरोंसे तो भले ही हैं।

[आजीविकादि प्रयोजनार्थ धर्म साधनका प्रतिषेध]

तथा जो जीव कपटसे आजीविकाके अर्थ, व बड़ाईके अर्थ, व कुछ विषयकषाय-सम्बन्धी प्रयोजन विचारकर जैनी होते हैं, वे तो पापी ही हैं। अति तीव्र कषाय होनेपर ऐसी बुद्धि आती है। उनका सुलझना भी कठिन है। जैनधर्मका सेवन तो संसार नाशके लिये किया जाता है; जो उसके द्वारा सांसारिक प्रयोजन साधना चाहते हैं वे बड़ा अन्याय करते हैं। इसलिये वे तो मिथ्यादृष्टि हैं ही।

यहाँ कोई कहे—हिंसादि द्वारा जिन कार्योंको करते हैं, वही कार्य धर्म साधन द्वारा सिद्ध किये जायें तो बुरा क्या हुआ? दोनों प्रयोजन सिद्ध होते हैं?

उससे कहते हैं—पापकार्य और धर्मकार्यका एक साधन करनेसे पाप ही होता है। जैसे—कोई धर्मका साधन चैत्यालय बनवाये और उसीको स्त्री सेवनादि पापोंका भी साधन करे तो पाप ही होगा। हिंसादि द्वारा भोगादिकके हेतु अलग मकान बनवाता है तो बनवाये; परन्तु चैत्यालयमें भोगादि करना योग्य नहीं है। उसी प्रकार धर्मका साधन पूजा, शास्त्रादिक कार्य हैं, उन्हींको आजीविकादि पापका भी साधन बनाये तो पापी ही होगा। हिंसादिसे आजीविकादिके अर्थ व्यापारादि करता है तो करे, परन्तु पूजादि कार्योंमें तो आजीविकादिका प्रयोजन विचारना योग्य नहीं है।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो मुनि भी धर्मसाधन कर परघर भोजन करते हैं तथा साधर्मी साधर्मीका उपकार करते-कराते हैं सो कैसे बनेगा?

उत्तरः—वे आप तो कुछ आजीविकादिका प्रयोजन विचार कर धर्म साधन नहीं करते। उन्हें धर्मात्मा जानकर कितने ही स्वयमेव भोजन उपकारादि करते हैं, तब तो कोई दोष है नहीं। तथा यदि आप ही भोजनादिकका प्रयोजन विचारकर धर्म साधता है तो पापी है ही। जो विरागी होकर मुनिपना अंगीकार करते हैं उनको भोजनादिकका प्रयोजन नहीं है। शरीरकी स्थितिके अर्थ स्वयमेव भोजनादि कोई दे तो लेते हैं, नहीं तो समता रखते हैं—संक्लेशरूप नहीं होते। तथा अपने हितके अर्थ धर्म साधते हैं। उपकार करवानेका अभिप्राय नहीं है, और आपके जिसका त्याग नहीं है वैसा उपकार कराते हैं। कोई साधर्मी स्वयमेव उपकार करता है तो करे, और यदि न करे तो उन्हें कुछ संक्लेश होता नहीं।—सो ऐसा तो योग्य है। परन्तु आप ही आजीविकादिका प्रयोजन विचारकर बाह्यधर्मका साधन करे, जहाँ भोजनादिक उपकार कोई न करे वहाँ संक्लेश करे, याचना करे, उपाय करे, अथवा धर्मसाधनमें शिथिल हो

जाये, तो उसे पापी ही जानना। इस प्रकार सांसारिक प्रयोजनसहित जो धर्म साधते हैं वे पापी भी हैं और मिथ्यादृष्टि तो हैं ही। इस प्रकार जिनमतवाले भी मिथ्यादृष्टि जानना। अब, इनके धर्मका साधन कैसे पाया जाता है सो विशेष बतलाते हैं:—

वहाँ कितने ही जीव कुल प्रवृत्तिसे अथवा देखादेखी लोभादिके अभिप्रायसे धर्म साधते हैं, उनके तो धर्मदृष्टि नहीं है। यदि भक्ति करते हैं तो चित्त तो कहीं है, दृष्टि घूमती रहती है और मुखसे पाठादि करते हैं व नमस्कारादि करते हैं; परन्तु यह ठीक नहीं है। मैं कौन हूँ, किसकी स्तुति करता हूँ, किस प्रयोजनके अर्थ स्तुति करता हूँ, पाठमें क्या अर्थ है, सो कुछ पता नहीं है। तथा कदाचित् कुदेवादिककी भी सेवा करने लग जाता है; वहाँ सुदेव-गुरु-शास्त्रादि व कुदेव-गुरु-शास्त्रादिकी विशेष पहिचान नहीं है। तथा यदि दान देता है तो पात्र-अपात्रके विचार रहित जैसे अपनी प्रशंसा हो वैसे दान देता है। तथा तप करता है तो भूखा रहकर महंतपना हो वह कार्य करता है; परिणामोंकी पहिचान नहीं है। तथा व्रतादिक धारण करता है तो वहाँ बाह्य क्रिया पर दृष्टि है; सो भी कोई सच्ची क्रिया करता है कोई झूठी करता है और जो अन्तरंग रागादिभाव पाये जाते हैं उनका विचार ही नहीं है तथा बाह्यमें भी रागादिके पोषणके साधन करता है। तथा पूजा-प्रभावनादि कार्य करता है तो वहाँ जिस प्रकार लोकमें बड़ाई हो, व विषय-कषायका पोषण हो उस प्रकार कार्य करता है। तथा बहुत हिंसादिक उत्पन्न करता है। सो यह कार्य तो अपने तथा अन्य जीवोंके परिणाम सुधारनेके अर्थ कहे हैं। तथा वहाँ किंचित् हिंसादिक भी उत्पन्न होते हैं; परन्तु जिसमें थोड़ा अपराध हो और गुण अधिक हो वह कार्य करना कहा है। सो परिणामोंकी तो पहिचान नहीं है, और यहाँ अपराध कितना लगता है, गुण कितना होता है—ऐसे नफा-टोटेका ज्ञान नहीं है व विधि-अविधिका ज्ञान नहीं है। तथा शास्त्राभ्यास करता है तो वहाँ पद्धतिरूप प्रवर्तता है—यदि बांचता है तो औरोंको सुना देता है, यदि पढ़ता है तो आप पढ़ जाता है, सुनता है तो जो कहते हैं वह सुन लेता है, परन्तु जो शास्त्राभ्यासका प्रयोजन है उसे आप अन्तरंगमें नहीं अवधारण करता।—इत्यादि धर्म कार्योंके मर्मको नहीं पहिचानता। कितने तो—जिस प्रकार कुलमें बड़े प्रवर्तते हैं उसी प्रकार हमें भी करना, अथवा दूसरे करते हैं वैसा हमें भी करना, व ऐसा करनेसे हमारे लोभादिककी सिद्धि होगी—इत्यादि विचारसहित अभूतार्थधर्मको साधते हैं।

तथा कितने ही जीव ऐसे होते हैं जिनके कुछ तो कुलादिरूप बुद्धि है, कुछ धर्मबुद्धि भी है; इसलिये पूर्वोक्त प्रकार भी धर्मका साधन करते हैं और कुछ आगे कहते

हैं उस प्रकारसे अपने परिणामोंको भी सुधारते हैं—मिश्रपना पाया जाता है। तथा कितने ही धर्मबुद्धिसे धर्म साधते हैं, परन्तु निश्चयधर्मको नहीं जानते, इसलिये अभूतार्थ-रूप धर्मको साधते हैं। वहाँ व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रको मोक्षमार्ग जानकर उनका साधन करते हैं। वहाँ शास्त्रमें देव-गुरु-धर्मकी प्रतीति करनेसे सम्यक्त्व होना कहा है। ऐसी आज्ञा मानकर अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थगुरु, जैनशास्त्रके अतिरिक्त औरोंको नमस्कारादि करनेका त्याग किया है परन्तु उनके गुण-अवगुणकी परीक्षा नहीं करते; अथवा परीक्षा भी करते हैं तो तत्त्वज्ञानपूर्वक सच्ची परीक्षा नहीं करते, बाह्यलक्षणों द्वारा परीक्षा करते हैं।—ऐसी प्रतीतिसे सुदेव-गुरु-शास्त्रोंकी भक्तिमें प्रवर्तते हैं।

[अरहन्तभक्तिका अन्यथा रूप]

वहाँ अरहन्तदेव हैं, इन्द्रादि द्वारा पूज्य हैं, अनेक अतिशयसहित हैं, क्षुधादि दोष रहित हैं, शरीरकी सुन्दरताको धारण करते हैं, स्त्री संगमादि रहित हैं, दिव्यध्वनि द्वारा उपदेश देते हैं, केवलज्ञान द्वारा लोकालोकको जानते हैं, काम-क्रोधादिक नष्ट किये हैं—इत्यादि विशेषण कहे हैं। वहाँ इनमेंसे कितने ही विशेषण पुद्गलाश्रित हैं और कितने ही जीवाश्रित हैं उनको भिन्न-भिन्न नहीं पहिचानते। जिस प्रकार कोई असमान-जातीय मनुष्यादि पर्यायोंमें जीव-पुद्गलके विशेषणोंको भिन्न न जानकर मिथ्यादृष्टि धारण करता है, उसी प्रकार यह भी असमानजातीय अरहन्तपर्यायमें जीव-पुद्गलके विशेषणोंको भिन्न न जानकर मिथ्यादृष्टि धारण करता है। तथा जो बाह्य विशेषण हैं उन्हें तो जानकर उनके द्वारा अरहन्तदेवको महंतपना विशेष मानता है, और जो जीवके विशेषण हैं उन्हें यथावत् न जानकर उनके द्वारा अरहन्तदेवको महंतपना आज्ञानुसार मानता है अथवा अन्यथा मानता है। **क्योंकि यथावत् जीवके विशेषण जाने तो मिथ्यादृष्टि न रहे।**

तथा उन अरहन्तोंको स्वर्ग-मोक्षदाता, दीनदयाल, अधमउधारक, पतितपावन मानता है; सो जैसे अन्यमती कर्तृत्वबुद्धिसे ईश्वरको मानता है उसी प्रकार यह अरहन्तको मानता है। ऐसा नहीं जानता कि—फल तो अपने परिणामोंका लगता है, अरहन्त उनको निमित्तमात्र हैं, इसलिये उपचार द्वारा वे विशेषण सम्भव होते हैं। अपने परिणाम शुद्ध हुए विना अरहन्त ही स्वर्ग-मोक्षादिके दाता नहीं हैं। तथा अरिहंतादिकके नामादिकसे श्वानादिकने स्वर्ग प्राप्त किया, वहाँ नामादिकका ही अतिशय मानता है, परन्तु बिना परिणामके नाम लेनेवालेको भी स्वर्गकी प्राप्ति नहीं होती तब सुननेवालेको

कैसे होगी ? श्वानादिकको नाम सुननेके निमित्तसे कोई मंदकषायरूप भाव हुए हैं उनका फल स्वर्ग हुआ है; उपचारसे नामहीकी मुख्यता की है।

तथा अरहंतादिकके नाम-पूजनादिकसे अनिष्ट सामग्रीका नाश तथा इष्ट सामग्रीकी प्राप्ति मानकर रोगादि मिटानेके अर्थ व धनादिककी प्राप्तिके अर्थ नाम लेता है व पूजनादि करता है। सो इष्ट-अनिष्टका कारण तो पूर्वकर्मका उदय है। अरहन्त तो कर्ता हैं नहीं, अरहंतादिकको भक्तिरूप शुभोपयोग परिणामोंसे पूर्वपापके संक्रमणादि हो जाते हैं। इसलिये उपचारसे अनिष्टके नाशका व इष्टकी प्राप्तिका कारण अरहंतादिककी भक्ति कही जाती है; परन्तु जो जीव प्रथमसे ही सांसारिक प्रयोजनसहित भक्ति करता है उसके तो पापहीका अभिप्राय हुआ। कांक्षा, विचिकित्सारूप भाव हुए उनसे पूर्व पापके संक्रमणादि कैसे होंगे ? इसलिये उसका कार्य सिद्ध नहीं हुआ।

तथा कितने ही जीव भक्तिको मुक्तिका कारण जानकर वहाँ अतिअनुरागी होकर प्रवर्तते हैं, वह तो अन्यमती जैसे भक्तिसे मुक्ति मानते हैं वैसा ही इनके भी श्रद्धान हुआ। परन्तु भक्ति तो रागरूप है और रागसे बन्ध है, इसलिये मोक्षका कारण नहीं है। जब रागका उदय आता है, तब भक्ति न करे तो पापानुराग हो, इसलिये अशुभराग छोड़नेके लिये ज्ञानी भक्तिमें प्रवर्तते हैं और मोक्षमार्गको बाह्य निमित्तमात्र भी जानते हैं, परन्तु यहाँ ही उपादेयपना मानकर सन्तुष्ट नहीं होते, शुद्धोपयोगके उद्यमी रहते हैं। वही पंचास्तिकाय व्याख्यामें कहा है:—

इयं भक्तिः केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। तीव्ररागज्वरविनोदार्थमस्थानराग-निषेधार्थं क्वचित् ज्ञानिनोपि भवति ॥*

अर्थः—यह भक्ति केवल भक्ति ही है प्रधान जिसके ऐसे अज्ञानी जीवके होती है। तथा तीव्ररागज्वर मिटानेके अर्थ या कुस्थानके रागका निषेध करनेके अर्थ कदाचित् ज्ञानीके भी होती है।

वहाँ वह पूछता है—ऐसा है तो ज्ञानीसे अज्ञानीके भक्तिकी अधिकता होती होगी ?

उत्तरः—यथार्थताकी अपेक्षा तो ज्ञानीके सच्ची भक्ति है अज्ञानीके नहीं है। और रागभावकी अपेक्षा अज्ञानीके श्रद्धानमें भी उसे मुक्तिका कारण जाननेसे अतिअनु-

---

* अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्राधान्यस्याज्ञानिनो भवति। उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्यास्थानराग निषेधार्थं तीव्ररागज्वर विनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति ॥ गा० १३६–टीका।

राग है; ज्ञानीके श्रद्धानमें शुभबन्धका कारण जाननेसे वैसा अनुराग नहीं है। बाह्यमें कदाचित् ज्ञानीको अनुराग बहुत होता है, कभी अज्ञानीको होता है—ऐसा जानना।—इस प्रकार देव भक्तिका स्वरूप बतलाया।

[गुरुभक्तिका अन्यथारूप]

अब, गुरु भक्ति उसके कैसी होती है सो कहते हैं :—

कितने ही जीव आज्ञानुसारी हैं। वे तो—यह जैनके साधु हैं, हमारे गुरु हैं, इसलिये इनकी भक्ति करनी—ऐसा विचार कर उनकी भक्ति करते हैं। और कितने ही जीव परीक्षा भी करते हैं। वहाँ यह मुनि दया पालते हैं, शील पालते हैं, धनादि नहीं रखते, उपवासादि तप करते हैं, क्षुधादि परीषह सहते हैं, किसीसे क्रोधादि नहीं करते हैं, उपदेश देकर औरोंको धर्ममें लगाते हैं,—इत्यादि गुणोंका विचार कर उनमें भक्ति-भाव करते हैं। परन्तु ऐसे गुण तो परमहंसादिक अन्यमतियोंमें तथा जैनी मिथ्यादृष्टियोंमें भी पाये जाते हैं; इसलिये इनमें अतिव्याप्तिपना है। इनके द्वारा सच्ची परीक्षा नहीं होती। तथा जिन गुणोंका विचार करते हैं उनमें कितने ही जीवाश्रित हैं, कितने ही पुद्गलाश्रित हैं; उनके विशेष न जानते हुए असमानजातीय मुनिपर्यायमें एकत्वबुद्धिसे मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी एकतारूप मोक्षमार्ग वह ही मुनियोंका सच्चा लक्षण है, उसे नहीं पहिचानते। क्योंकि यह पहिचान हो जाये तो मिथ्या-दृष्टि रहते नहीं। इस प्रकार यदि मुनियोंका सच्चा स्वरूप ही नहीं जानेंगे तो सच्ची भक्ति कैसे होगी? पुण्यबन्धके कारणभूत शुभक्रियारूप गुणोंको पहिचानकर उनकी सेवासे अपना भला होना जानकर उनमें अनुरागी होकर भक्ति करते हैं।—इस प्रकार गुरु भक्तिका स्वरूप कहा।

[शास्त्रभक्तिका अन्यथारूप]

अब, शास्त्र भक्तिका स्वरूप कहते हैं :—

कितने ही जीव तो यह केवली भगवानकी वाणी है, इसलिये केवलीके पूज्यपनेके कारण यह भी पूज्य है—ऐसा जानकर भक्ति करते हैं। तथा कितने ही इस प्रकार परीक्षा करते हैं कि—इन शास्त्रोंमें विरागता, दया, क्षमा, शील, संतोषादिकका निरूपण है इसलिये यह उत्कृष्ट हैं—ऐसा जानकर भक्ति करते हैं। सो ऐसा कथन तो अन्य शास्त्र वेदांतादिकमें भी पाया जाता है। तथा इन शास्त्रोंमें त्रिलोकादिकका

गम्भीर निरूपण है, इसलिये उत्कृष्टता जानकर भक्ति करते हैं। परन्तु यहाँ अनुमानादिकका तो प्रवेश है नहीं, इसलिये सत्य-असत्यका निर्णय करके महिमा कैसे जानें? इसलिये इसप्रकार सच्ची परीक्षा नहीं होती। यहाँ तो अनेकान्तरूप सच्चे जीवादि-तत्त्वोंका निरूपण है और सच्चा रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग दिखलाया है। उसीसे जैनशास्त्रोंकी उत्कृष्टता है, उसे नहीं पहिचानते। क्योंकि यह पहिचान हो जाये तो मिथ्यादृष्टि रहती नहीं। इस प्रकार शास्त्रभक्तिका स्वरूप कहा।

इस प्रकार इसको देव-गुरु-शास्त्रकी प्रतीति हुई, इसलिये व्यवहारसम्यक्त्व हुआ मानता है। परन्तु उनका सच्चा स्वरूप भासित नहीं हुआ है; इसलिये प्रतीति भी सच्ची नहीं हुई है। सच्ची प्रतीतिके विना सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती; इसलिये मिथ्यादृष्टि ही है। तथा शास्त्रमें "तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं" (तत्त्वार्थसूत्र १-२) ऐसा वचन कहा है, इसलिये शास्त्रोंमें जैसे जीवादि तत्त्व लिखे हैं, वैसे आप सीख लेता है और वहाँ उपयोग लगाता है; औरोंको उपदेश देता है, परन्तु उन तत्त्वोंका भाव भासित नहीं होता, और यहाँ उस वस्तुके भावहीका नाम तत्त्व कहा है। सो भाव भासित हुए विना तत्त्वार्थ श्रद्धान कैसे होगा? भाव भासना क्या है? सो कहते हैं—

जैसे—कोई पुरुष चतुर होनेके अर्थ शास्त्र द्वारा स्वर, ग्राम, मूर्छना, रागोंका स्वरूप और ताल-तानके भेद तो सीखता है, परन्तु स्वरादिका स्वरूप नहीं पहिचानता। स्वरूपकी पहिचान हुए विना अन्य स्वरादिकको अन्य स्वरादिकरूप मानता है, अथवा सत्य भी मानता है तो निर्णय करके नहीं मानता है; इसलिये उसके चतुरपना नहीं होता। उसी प्रकार कोई जीव सम्यक्त्वी होनेके अर्थ शास्त्र द्वारा जीवादिक तत्त्वोंका स्वरूप सीख लेता है; परन्तु उनके स्वरूपको नहीं पहिचानता है; स्वरूपको पहिचाने बिना अन्य तत्त्वोंको अन्यतत्त्वरूप मान लेता है, अथवा सत्य भी मानता है तो निर्णय करके नहीं मानता, इसलिये उसके सम्यक्त्व नहीं होता। तथा जैसे कोई शास्त्रादि पढ़ा हो या न पढ़ा हो, परन्तु स्वरादिके स्वरूपको पहिचानता है तो वह चतुर ही है। उसी प्रकार शास्त्र पढ़ा हो या न पढ़ा हो, यदि जीवादिकके स्वरूपको पहिचानता है तो वह सम्यग्दृष्टि ही है। जैसे हिरन स्वर-रागादिकका नाम नहीं जानता परन्तु उसके स्वरूपको पहिचानता है; उसी प्रकार तुच्छबुद्धि जीवादिकका नाम नहीं जानते परन्तु उनके स्वरूपको पहिचानते हैं कि—यह मैं हूँ, ये पर हैं; ये भाव बुरे हैं, ये भले हैं;—इस प्रकार

स्वरूपको पहिचाने उसका नाम भाव भासना है। शिवभूति* मुनि जीवादिकका नाम नहीं जानते थे, और "तुपमापभिन्न" ऐसा रटने लगे। सो यह सिद्धान्तका शब्द था नहीं, परन्तु स्व-परके भावरूप ध्यान किया, इसलिये केवली हुए। और ग्यारहअंगके पाठी जीवादि तत्त्वोंके विशेप भेद जानते हैं, परन्तु भाव भासित नहीं होता, इसलिये मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। अब, इसके तत्त्वश्रद्धान किस प्रकार होता है सो कहते हैं—

[जीव-अजीव तत्त्वका अन्यथा रूप]

जिन शास्त्रोंसे जीवके त्रस-स्थावरादिरूप, तथा गुणस्थान-मार्गणादिरूप भेदोंको जानता है; अजीवके पुद्गलादि भेदोंको तथा उनके वर्णादि विशेपोंको जानता है; परन्तुअध्यात्म-शास्त्रोंमें भेदविज्ञानको कारणभूत व वीतरागदशा होनेको कारणभूत जैसा निरूपण किया है वैसा नहीं जानता। तथा किसी प्रसंगवश उसी प्रकार जानना होजाये, तब शास्त्रानुसार जान तो लेता है परंतु अपनेको आपरूप जानकर परका अंश भी अपनेमें न मिलाना और अपना अंश भी परमें न मिलाना—ऐसा सच्चा श्रद्धान नहीं करता है। जैसे—अन्य मिथ्यादृष्टि निर्धार विना पर्यायबुद्धिसे जानपनेमें व वर्णादिमें अहंबुद्धि धारण करते हैं, उसी प्रकार यह भी आत्माश्रित ज्ञानादिमें तथा शरीराश्रित उपदेश, उपवासादिक्रियाओंमें अपनत्व मानता है। तथा कभी शास्त्रानुसार सच्ची वात भी वनाता है, परन्तु अंतरंग निर्धाररूप श्रद्धान नहीं है। इसलिये जिस प्रकार मतवाला माताको माता भी कहे तो वह सयाना नहीं है; उसी प्रकार इसे सम्यक्त्वी नहीं कहते। तथा जैसे किसी और ही की वातें कर रहा हो उस प्रकारसे आत्माका कथन करता है, परन्तु यह आत्मा मैं हूँ—ऐसा भाव भासित नहीं होता। तथा जैसे किसी औरको औरसे भिन्न वतलाता हो, उस प्रकार आत्मा और शरीरकी भिन्नता प्ररूपित करता है; परन्तु मैं इन शरीरादिकसे भिन्न हूँ—ऐसा भाव भासित नहीं होता। तथा पर्यायमें जीव-पुद्गलके परस्पर निमित्तसे अनेक क्रियाएँ होती हैं, उन्हें दोनों द्रव्योंके मिलापसे उत्पन्न हुई जानता है; यह जीवकी क्रिया है उसका पुद्गल निमित्त है, यह पुद्गलकी क्रिया है उसका जीव निमित्त है—ऐसा भिन्न-भिन्न भाव भासित नहीं होता। इत्यादि भाव भासित हुए विना उसे जीव-अजीवका सच्चा श्रद्धानी नहीं कहते; क्योंकि जीव-अजीवको जाननेका तो यह ही प्रयोजन था, वह हुआ नहीं।

---

* तुसमासं घोसंतो भावविसुद्धो महाणुभावो य।
णामेण य सिवभूई केवलणाणी फुडो जाओ॥ भावपाहुड-५३॥

[आस्रवतत्त्वका अन्यथा रूप]

तथा आस्रवतत्त्वमें जो हिंसादिरूप पापास्रव हैं उन्हें हेय जानता है; अहिंसादिरूप पुण्यास्रव है उन्हें उपादेय मानता है। परन्तु यह तो दोनों ही कर्मबंधके कारण हैं, इनमें उपादेयपना मानना वही मिथ्यादृष्टि है। वही समयसारके बंधाधिकारमें कहा है*—

सर्व जीवोंके जीवन-मरण, सुख-दुःख अपने कर्मके निमित्तसे होते हैं। जहाँ अन्य जीव अन्य जीवके इन कार्योंका कर्ता हो, वही मिथ्याध्यवसाय बंधका कारण है। वहाँ अन्य जीवोंको जिलानेका अथवा सुखी करनेका अध्यवसाय हो वह तो पुण्यबंधका कारण है, और मारनेका अथवा दुःखी करनेका अध्यवसाय हो वह पापबंधका कारण है।—इस प्रकार अहिंसावत् सत्यादिक तो पुण्यबंधके कारण हैं और हिंसावत् असत्यादिक पापबंधके कारण हैं। ये सर्व मिथ्याध्यवसाय हैं, वे त्याज्य हैं। इसलिये हिंसादिवत् अहिंसादिकको भी बंधका कारण जानकर हेय ही मानना। हिंसामें मारनेकी बुद्धि हो, परन्तु उसकी आयु पूर्ण हुए बिना मरता नहीं है, यह अपनी द्वेषपरिणतिसे आप ही पाप बांधता है। अहिंसामें रक्षा करनेकी बुद्धि हो, परन्तु उसकी आयु अवशेष हुए बिना वह जीता नहीं है, यह अपनी प्रशस्त रागपरिणतिसे आप ही पुण्य बांधता है।—इस प्रकार यह दोनों हेय हैं; जहाँ वीतराग होकर दृष्टाज्ञातारूप प्रवर्ते वहाँ निर्बंध है सो उपादेय हैं। सो ऐसी दशा न हो तब तक प्रशस्त रागरूप प्रवर्तन करो, परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखो कि—यह भी बन्धका कारण है—हेय है; श्रद्धानमें इसे मोक्षमार्ग जाने तो मिथ्यादृष्टि ही होता है।

तथा मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग ये आस्रवके भेद हैं, उन्हें बाह्यरूप तो मानता है परन्तु अंतरंग इन भावोंकी जातिको नहीं पहिचानता। वहाँ अन्य देवादिके सेवनरूप गृहीतमिथ्यात्वको मिथ्यात्व जानता है, परन्तु अनादिअगृहीतमिथ्यात्व है उसे नहीं पहिचानता। तथा बाह्य त्रस-स्थावरकी हिंसा तथा इन्द्रिय-मनके विषयोंमें प्रवृत्ति

---

* समयसार गाथा २५४ से २५६ तथा—

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय कर्मोदयान्मरण-जीवित दुःखसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य कुर्यात्पुमान् मरणं जीवितदुःखसौख्यम् ॥ ६ ॥
अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य पश्यन्ति ये मरण-जीवित दुःख-सौख्यम्।
कर्म्माण्यहं कृतिरसेन चिकीर्षवस्ते मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥ ७ ॥

(—समयसार कलश बंधाधिकार)

उसको अविरति जानता है; हिंसामें प्रमाद परिणति मूल है और विषय सेवनमें अभिलाषा मूल है, उसका अवलोकन नहीं करता। तथा बाह्य क्रोधादि करना उसको कषाय जानता है, अभिप्रायमें रागद्वेष बस रहे हैं उनको नहीं पहिचानता। तथा बाह्य चेष्टा हो उसे योग जानता है, शक्तिभूत योगोंको नहीं जानता।—इस प्रकार आस्रवोंका स्वरूप अन्यथा जानता है।

तथा राग-द्वेष-मोहरूप जो आस्रवभाव हैं, उनका तो नाश करनेकी चिन्ता नहीं है और बाह्यक्रिया अथवा बाह्यनिमित्त मिटानेका उपाय रखता है, सो उनके मिटानेसे आस्रव नहीं मिटता। द्रव्यलिंगी मुनि अन्यदेवादिककी सेवा नहीं करता, हिंसा या विषयोंमें नहीं प्रवर्तता, क्रोधादि नहीं करता, मन-वचन-कायको रोकता है, तथापि उसके मिथ्यात्वादि चारों आस्रव पाये जाते हैं। तथा कपटसे भी वे कार्य नहीं करता है, कपटसे करे तो ग्रैवेयक पर्यंत कैसे पहुँचे? इसलिये जो अंतरंग अभिप्रायमें मिथ्यात्वादिरूप रागादिभाव हैं वे ही आस्रव हैं। उन्हें नहीं पहिचानता इसलिये इसके आस्रवतत्त्वका भी सत्य श्रद्धान नहीं है।

[बन्धतत्त्वका अन्यथा रूप]

तथा बंधतत्त्वमें जो अशुभभावोंसे नरकादिरूप पापका बंध हो उसे तो बुरा जानता है और शुभभावोंसे देवादिरूप पुण्यका बंध हो उसे भला जानता है। परन्तु सभी जीवोंके दुःख सामग्रीमें द्वेष और सुखसामग्रीमें राग पाया जाता है, सो इसके भी राग-द्वेष करनेका श्रद्धान हुआ। जैसा इस पर्याय सम्बन्धी सुख-दुःख सामग्रीमें राग-द्वेष करना है वैसा ही आगामी पर्याय सम्बन्धी सुख-दुःख सामग्रीमें राग-द्वेष करना है। तथा शुभ-अशुभभावोंसे पुण्य-पापका विशेष तो अघातिकर्मोंमें होता है, परन्तु अघातिकर्म आत्मगुणके घातक नहीं हैं। तथा शुभ-अशुभभावोंमें घातिकर्मोंका तो निरंतर बंध होता है, वे सर्व पापरूप ही हैं और वही आत्मगुणके घातक हैं। इसलिये अशुद्धभावोंसे कर्मबंध होता है, उसमें भला-बुरा जानना वही मिथ्या श्रद्धान है। सो ऐसे श्रद्धानसे बंधका भी उसे सत्य श्रद्धान नहीं है।

[संवर तत्त्वका अन्यथा रूप]

तथा संवर तत्त्वमें अहिंसादिरूप शुभास्रवभावोंको संवर जानता है। परन्तु एक ही कारणसे पुण्यबंध भी माने और संवर भी माने वह नहीं हो सकता।

प्रश्न:—मुनियोंके एक कालमें एक भाव होता है, वहाँ उनके बंध भी होता है और संवर-निर्जरा भी होते हैं, सो किस प्रकार है ?

समाधान:—वह भाव मिश्ररूप है। कुछ वीतराग हुआ है कुछ सराग रहा है। जो अंश वीतराग हुए उनसे संवर है और जो अंश सराग रहे उनसे बंध है। सो एक भावसे तो दो कार्य बनते हैं, परन्तु एक प्रशस्तरागहीसे पुण्यास्रव भी मानना और संवर-निर्जरा भी मानना सो भ्रम है। मिश्रभावमें भी यह सरागता है, यह विरागता है—ऐसी पहिचान सम्यग्दृष्टिहीके होती है। इसलिये अवशेष सरागताको हेयरूप श्रद्धा करता है। मिथ्यादृष्टिके ऐसी पहिचान नहीं है, इसलिये सरागभावमें संवरके भ्रमसे प्रशस्त रागरूप कार्योंको उपादेयरूप श्रद्धा करता है। तथा सिद्धान्तमें गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय, चारित्र—इनके द्वारा संवर होता है ऐसा कहा* है, सो इनकी भी यथार्थ श्रद्धा नहीं करता। किस प्रकार ? सो कहते हैं:—

बाह्य मन, वचन, कायकी चेष्टा मिटाये, पाप-चिंतवन न करे, मौन धारण करे, गमनादि न करे, उसे वह गुप्ति मानता है। सो यहाँ तो मनमें भक्ति आदिरूप प्रशस्तरागसे नानाविकल्प होते हैं, वचन-कायकी चेष्टा स्वयंने रोक रखी है, वहाँ शुभप्रवृत्ति है, और प्रवृत्तिमें गुप्तिपना बनता नहीं है; इसलिये वीतरागभाव होनेपर जहाँ मन-वचन-कायकी चेष्टा न हो वही सच्ची गुप्ति है।

तथा पर जीवोंकी रक्षाके अर्थ यत्नाचार प्रवृत्ति उसको समिति मानता है। सो हिंसाके परिणामोंसे तो पाप होता है और रक्षाके परिणामोंसे संवर कहोगे तो पुण्यबन्धका कारण कौन ठहरेगा ? तथा एषणासमितिमें दोष टालता है वहाँ रक्षाका प्रयोजन है नहीं, इसलिये रक्षाहीके अर्थ समिति नहीं है। तो समिति कैसे होती है ? मुनियोंके किंचित् राग होनेपर गमनादिक्रिया होती है, वहाँ उन क्रियाओंमें अतिआसक्तताके अभावसे प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती। तथा अन्य जीवोंको दुःखी करके अपना गमनादि प्रयोजन नहीं साधते, इसलिये स्वयमेव ही दया पलती है। इस प्रकार सच्ची समिति है।

तथा बन्धादिकके भयसे अथवा स्वर्ग-मोक्षकी इच्छासे क्रोधादि नहीं करते, परन्तु वहाँ क्रोधादि करनेका अभिप्राय तो मिटा नहीं है। जैसे—कोई राजादिकके

* स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः।

(तत्त्वार्थ सूत्र ९-२)

भयसे अथवा महंतपनेके लोभसे परस्त्रीका सेवन नहीं करता, तो उसे त्यागी नहीं कहते। वैसे ही यह क्रोधादिकका त्यागी नहीं है। तो कैसे त्यागी होता है?—पदार्थ अनिष्ट-इष्ट भासित होनेसे क्रोधादिक होते हैं; जब तत्त्वज्ञानके अभ्याससे कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो, तब स्वयमेव ही क्रोधादिक उत्पन्न नहीं होते, तब सच्चा धर्म होता है।

तथा अनित्यादि चिंतवनसे शरीरादिकको बुरा जान, हितकारी न जानकर उनसे उदास होना उसका नाम अनुप्रेक्षा कहता है। सो यह तो जैसे कोई मित्र था तब उससे राग था और पश्चात् उसके अवगुण देखकर उदासीन हुआ; उसी प्रकार शरीरादिकसे राग था, पश्चात् अनित्यादि अवगुण अवलोककर उदासीन हुआ; परन्तु ऐसी उदासीनता तो द्वेषरूप है। अपना और शरीरादिकका जहाँ–जैसा स्वभाव है वैसा पहिचानकर, भ्रमको मिटाकर, भला जानकर राग नहीं करना और बुरा जानकर द्वेष नहीं करना।—ऐसी सच्ची उदासीनताके अर्थ यथार्थ अनित्यत्वादिकका चिंतवन करना ही सच्ची अनुप्रेक्षा है।

तथा क्षुधादिक होनेपर उनके नाशका उपाय नहीं करना, उसे परीषह सहना कहता है। सो उपाय तो नहीं किया और अंतरंगमें क्षुधादि अनिष्ट सामग्री मिलनेपर दुःखी हुआ, रति आदिका कारण मिलनेपर सुखी हुआ; तो वे दुःख-सुखरूप परिणाम हैं, वही आर्त्तध्यान-रौद्रध्यान हैं। ऐसे भावोंसे संवर कैसे हो? इसलिये दुःखका कारण मिलनेपर दुःखी न हो और सुखका कारण मिलनेपर सुखी न हो, ज्ञेयरूपसे उनका जाननेवाला ही रहे, वही सच्चा परीषहसहन है।

तथा हिंसादि सावद्य योगके त्यागको चारित्र मानता है, वहाँ महाव्रतादिरूप शुभयोगको उपादेयपनेसे ग्राह्य मानता है। परन्तु तत्त्वार्थसूत्रमें आस्रव पदार्थका निरूपण करते हुए महाव्रत-अणुव्रतको भी आस्रवरूप कहा है। वे उपादेय कैसे हो? तथा आस्रव तो बन्धका साधक है और चारित्र मोक्षका साधक है; इसलिये महाव्रतादिरूप आस्रवभावोंको चारित्रपना संभव नहीं होता; सकल कषायरहित जो उदासीनभाव उसीका नाम चारित्र है। जो चारित्रमोहके देशघाती स्पर्द्धकोंके उदयसे महामन्द प्रशस्त राग होता है, वह चारित्रका मल है। उसे छूटता न जानकर उसका त्याग नहीं करते, सावद्ययोगका ही त्याग करते हैं। परन्तु जैसे कोई पुरुष कन्दमूलादि बहुत दोषवाली हरितकायका त्याग करता है और कितनी ही हरितकायोंका भक्षण करता है, परन्तु उसे धर्म नहीं मानता।

उसी प्रकार मुनि हिंसादि तीव्रकषायरूप भावोंका त्याग करते हैं और कितने ही मन्द-कषायरूप महाव्रतादिका पालन करते हैं, परन्तु उसे मोक्षमार्ग नहीं मानते।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो चारित्रके तेरह भेदोंमें महाव्रतादि कैसे कहे हैं ?

समाधानः—वह व्यवहारचारित्र कहा है, और व्यवहार नाम उपचारका है। सो महाव्रतादि होनेपर ही वीतराग चारित्र होता है—ऐसा सम्बन्ध जानकर महाव्रतादिमें चारित्रका उपचार किया है; **निश्चयसे निःकषायभाव है, वही सच्चा चारित्र है।** इस प्रकार संवरके कारणोंको अन्यथा जानते हुए संवरका सच्चा श्रद्धानी नहीं होता।

[निर्जरातत्त्वका अन्यथा रूप]

तथा यह अनशनादि तपसे निर्जरा मानता है; परन्तु केवल बाह्य तप ही करनेसे तो निर्जरा होती नहीं है। बाह्य तप तो शुद्धोपयोग बढ़ानेके अर्थ करते हैं। शुद्धोपयोग निर्जराका कारण है इसलिये उपचारसे तपको भी निर्जराका कारण कहा है। यदि बाह्य दुःख सहना ही निर्जराका कारण हो तो तिर्यंचादि भी भूख-तृषादि सहते हैं।

तब वह कहता है—वे तो पराधीनतासे सहते हैं; स्वाधीनतासे धर्मबुद्धिपूर्वक उपवासादिरूप तप करे, उसके निर्जरा होती है।

समाधानः—धर्मबुद्धिसे बाह्य उपवासादि तो किये, और वहाँ उपयोग अशुभ, शुभ, शुद्धरूप जैसा परिणमित हो वैसा परिणमो। यदि बहुत उपवासादि करनेसे बहुत निर्जरा हो, थोड़े करनेसे थोड़ी निर्जरा हो; ऐसा नियम ठहरे, तब तो उपवासादिक ही मुख्य निर्जराका कारण ठहरेगा; सो तो बनता नहीं। परिणाम दुष्ट होनेपर उपवासादिकसे निर्जरा होना कैसे संभव है ? यदि ऐसा कहें कि—जैसा अशुभ, शुभ, शुद्धरूप उपयोग परिणमित हो उसके अनुसार बन्ध-निर्जरा है; तो उपवासादि तप मुख्य निर्जराका कारण कैसे रहा ? अशुभ-शुभपरिणाम बन्धके कारण ठहरे, शुद्धपरिणाम निर्जराके कारण ठहरे।

प्रश्नः—तत्त्वार्थसूत्रमें "तपसा निर्जरा च" (९–३) ऐसा कैसे कहा है ?

समाधानः—शास्त्रमें "इच्छानिरोधस्तपः" ऐसा कहा है, इच्छाको रोकना उसका नाम तप है। सो शुभ-अशुभ इच्छा मिटनेपर उपयोग शुद्ध हो, वहां निर्जरा होती है। इसलिये तपसे निर्जरा कही है।

यहाँ कहता है—आहारादिरूप अशुभकी तो इच्छा दूर होनेपर ही तप होता है। परन्तु उपवासादिक व प्रायश्चित्तादिक शुभ कार्य हैं उनकी इच्छा तो रहती है।

समाधान:—ज्ञानीजनोंको उपवासादिककी इच्छा नहीं है, एक शुद्धोपयोगकी इच्छा है; उपवासादि करनेसे शुद्धोपयोग बढ़ता है, इसलिये उपवासादि करते हैं। तथा यदि उपवासादिकसे शरीर या परिणामोंकी शिथिलताके कारण शुद्धोपयोगको शिथिल होता जानें तो वहाँ आहारादिक ग्रहण करते हैं। यदि उपवासादिकहीसे सिद्धि हो तो अजितनाथ आदि तेईस तीर्थंकर दीक्षा लेकर दो उपवास ही क्यों धारण करते? उनकी तो शक्ति भी बहुत थी। परन्तु जैसे परिणाम हुए वैसे बाह्य साधन द्वारा एक वीतराग शुद्धोपयोगका अभ्यास किया।

प्रश्न:—यदि ऐसा है तो अनशनादिकको तप संज्ञा कैसे हुई?

समाधान:—उन्हें बाह्यतप कहा है। सो बाह्यका अर्थ यह है कि—"बाहरसे औरोंको दिखायी दे कि यह तपस्वी है," परन्तु आप तो फल जैसे अंतरंग परिणाम होंगे; वैसा ही पायेगा। क्योंकि परिणामशून्य शरीरकी क्रिया फलदाता नहीं है।

यहाँ फिर प्रश्न है कि—शास्त्रमें तो अकाम-निर्जरा कही है। वहाँ बिना इच्छाके भूख-प्यास आदि सहनेसे निर्जरा होती है, तो फिर उपवासादि द्वारा कष्ट सहनेसे कैसे निर्जरा न हो?

समाधान:—अकाम निर्जरामें भी बाह्य निमित्त तो बिना इच्छाके भूख-प्यासका सहन करना हुआ है, और वहाँ मन्दकषायरूप भाव हो तो पापकी निर्जरा होती है, देवादि पुण्यका बन्ध होता है। परन्तु यदि तीव्रकषाय होनेपर भी कष्ट सहनेसे पुण्य बन्ध होता हो, तो सर्व तिर्यंचादिक देव ही हों, सो बनता नहीं है। उसी प्रकार इच्छा पूर्वक उपवासादि करनेसे वहाँ भूख-प्यासादि कष्ट सहते हैं; सो यह बाह्य निमित्त है परन्तु वहाँ जैसा परिणाम हो वैसा फल पाता है। जैसे अन्नको प्राण कहा उसी प्रकार। तथा इस प्रकार बाह्यसाधन होनेसे अंतरंग तपकी वृद्धि होती है इसलिये उपचारसे इनको तप कहा है; परन्तु यदि बाह्यतप तो करे और अन्तरंग तप न हो तो उपचारसे भी उसे तपसंज्ञा नहीं है। कहा भी है कि—

कषायविषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः॥

जहाँ कषाय, विषय और आहारका त्याग किया जाता है उसे उपवास जानना। शेपको श्री गुरु लंघन कहते हैं।

यहाँ कहेगा—यदि ऐसा है तो हम उपवासादि नहीं करेंगे ?

उससे कहते हैं—उपदेश तो ऊँचा चढ़नेको दिया जाता है; तू उल्टा नीचे गिरेगा तो हम क्या करेंगे ? यदि तू मानादिकसे उपवासादि करता है तो कर या मत कर; कुछ सिद्धि नहीं है। और यदि धर्मबुद्धिसे आहारादिकका अनुराग छोड़ता है तो जितना राग छूटा उतना ही छूटा; परन्तु इसीको तप जानकर इससे निर्जरा मानकर सन्तुष्ट मत हो। तथा अंतरंग तपोंमें प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग और ध्यानरूप जो क्रियाएँ, उनमें वाह्य प्रवर्तन उसे तो बाह्यतपवत् ही जानना। जैसे अनशनादि बाह्य क्रिया हैं उसी प्रकार यह भी बाह्य क्रिया हैं; इसलिये प्रायश्चित्तादि बाह्यसाधन अंतरंग तप नहीं हैं। ऐसा वाह्यप्रवर्तन होनेपर जो अंतरंग परिणामोंकी शुद्धता हो उसका नाम अंतरंग तप जानना। वहाँ भी इतना विशेष है कि बहुत शुद्धता होनेपर शुद्धोपयोगरूप परिणति होती है वहाँ तो निर्जरा ही है, बंध नहीं होता। और अल्प शुद्धता होनेपर शुभोपयोगका भी अंश रहता है; इसलिये जितनी शुद्धता हुई उससे तो निर्जरा है और जितना शुभभाव है उससे बंध है। ऐसा मिश्रभाव युगपत् होता है, वहाँ वन्ध और निर्जरा दोनों होते हैं।

यहाँ कोई कहे कि—शुभभावोंसे पापकी निर्जरा होती है; पुण्यका वन्ध होता है; परन्तु शुद्धभावोंसे दोनोंकी निर्जरा होती है—ऐसा क्यों नहीं कहते ?

उत्तरः—मोक्षमार्गमें स्थितिका तो घटना सभी प्रकृतियोंका होता है; वहाँ पुण्य-पापका विशेष है ही नहीं। और अनुभागका घटना पुण्यप्रकृतियोंमें शुद्धोपयोगसे भी नहीं होता। ऊपर-ऊपर पुण्यप्रकृतियोंके अनुभागका तीव्र बन्ध-उदय होता है और पापप्रकृतियोंके परमाणु पलटकर शुभप्रकृतिरूप होते हैं—ऐसा संक्रमण शुभ तथा शुद्ध दोनों भाव होनेपर होता है; इसलिये पूर्वोक्त नियम संभव नहीं है, विशुद्धताहीके अनुसार नियम सम्भव है। देखो, चतुर्थगुणस्थानवाला शास्त्राभ्यास, आत्मचिंतवन आदि कार्य करे—वहाँ भी निर्जरा नहीं, वन्ध भी बहुत होता है। और पंचमगुणस्थानवाला विषय-सेवनादि कार्य करे—वहाँ भी उसके गुणश्रेणी निर्जरा होती रहती है, बंध भी थोड़ा होता है। तथा पंचमगुणस्थानवाला उपवासादि या प्रायश्चित्तादि तप करे, उसकालमें भी उसके निर्जरा थोड़ी होती है और छठवें गुणस्थानवाला आहार-विहारादि क्रिया करे उसकाल-में भी उसके निर्जरा बहुत होती है तथा वन्ध उससे भी थोड़ा होता है। इसलिये बाह्य प्रवृत्तिके अनुसार निर्जरा नहीं है, अंतरंग कपायशक्ति घटनेसे विशुद्धता होनेपर

निर्जरा होती है। सो इसके प्रगट स्वरूपका आगे निरूपण करेंगे वहाँसे जानना। इस प्रकार अनशनादि क्रियाको तपसंज्ञा उपचारसे जानना। इसीसे इसे व्यवहार तप कहा है। व्यवहार और उपचारका एक अर्थ है। तथा ऐसे साधनसे जो वीतरागभावरूप विशुद्धता हो वह सच्चा तप निर्जराका कारण जानना। यहाँ दृष्टान्त है—जैसे धनको व अन्नको प्राण कहा है। सो धनसे अन्न लाकर, उसका भक्षण करके प्राणोंका पोषण किया जाता है इसलिये उपचारसे धन और अन्नको प्राण कहा है। कोई इन्द्रियादिक प्राणोंको न जाने और इन्हींको प्राण जानकर संग्रह करे तो मरणको ही प्राप्त होगा। उसी प्रकार अनशनादिको तथा प्रायश्चित्तादिको तप कहा है, क्योंकि अनशनादि साधनसे प्रायश्चित्तादिरूप प्रवर्तन करके वीतरागभावरूप सत्य तपका पोषण किया जाता है; इसलिये उपचारसे अनशनादिको तथा प्रायश्चित्तादिको तप कहा है। कोई वीतरागभावरूप तपको न जाने और इन्हींको तप जानकर संग्रह करे तो संसारहीमें भ्रमण करेगा। बहुत क्या, इतना समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है, अन्य नाना विशेष बाह्यसाधनकी अपेक्षा उपचारसे किये हैं, उनको व्यवहारमात्र धर्मसंज्ञा जानना। इस रहस्यको नहीं जानता इसलिये उसके निर्जराका भी सच्चा श्रद्धान नहीं है।

[मोक्षतत्त्वका अन्यथारूप]

तथा सिद्ध होना उसे मोक्ष मानता है। वहाँ जन्म-जरा-मरण-रोग-क्लेशादि दु:ख दूर हुए, अनन्तज्ञान द्वारा लोकालोकका जानना हुआ, त्रिलोकपूज्यपना हुआ,—इत्यादि रूपसे उसकी महिमा जानता है। सो सर्व जीवोंके दु:ख दूर करनेकी, ज्ञेय जाननेकी तथा पूज्य होनेकी इच्छा है। यदि इन्हींके अर्थ मोक्ष की इच्छा की तो इसके अन्य जीवोंके श्रद्धानसे क्या विशेषता हुई? तथा इसके ऐसा भी अभिप्राय है कि स्वर्गमें सुख है उससे अनन्तगुना सुख मोक्षमें है। सो इस गुणाकारमें वह स्वर्ग-मोक्ष सुखकी एक जाति जानता है। वहाँ स्वर्गमें तो विषयादि सामग्री जनित सुख होता है, उसकी जाति इसे भासित होती है, परन्तु मोक्षमें विषयादि सामग्री है नहीं, सो वहाँके सुखकी जाति इसे भासित तो नहीं होती परन्तु महान पुरुष स्वर्गसे भी मोक्षको उत्तम कहते हैं इसलिये यह भी उत्तम ही मानता है। जैसे कोई गायनका स्वरूप न पहिचाने, परन्तु सभाके सर्व लोग सराहना करते हैं इसलिये आप भी सराहना करता है। उसी प्रकार यह मोक्षको उत्तम मानता है।

यहाँ वह कहता है—शास्त्रमें भी तो इन्द्रादिकसे अनन्तगुना सुख सिद्धोंके प्ररूपित किया है।

उत्तरः—जैसे तीर्थंकरके शरीरकी प्रभाको सूर्यप्रभासे कोटि गुनी कही, वहाँ उनकी एक जाति नहीं है; परन्तु लोकमें सूर्यप्रभाकी महिमा है, उससे भी अधिक महिमा बतलानेके लिये उपमालंकार करते हैं। उसी प्रकार सिद्धसुखको इन्द्रादिसुखसे अनन्तगुना कहा है; वहाँ उनकी एक जाति नहीं है; परन्तु लोकमें इन्द्रादिसुखकी महिमा है, उससे भी बहुत महिमा बतलानेके लिये उपमालंकार करते हैं।

फिर प्रश्न है कि—वह सिद्धसुख और इन्द्रादिसुखकी एक जाति जानता है—ऐसा निश्चय तुमने कैसे किया ?

समाधानः—जिस धर्मसाधनका फल स्वर्ग मानता है उस धर्मसाधनहीका फल मोक्ष मानता है। कोई जीव इन्द्रादि पद प्राप्त करे, कोई मोक्ष प्राप्त करे, वहाँ उन दोनोंको एक जातिके धर्मका फल हुआ मानता है। ऐसा तो मानता है कि—जिसके साधन थोड़ा होता है वह इन्द्रादिपद प्राप्त करता है; जिसके सम्पूर्ण साधन हो वह मोक्ष प्राप्त करता है; परन्तु वहाँ धर्मकी जाति एक जानता है। सो जो कारणकी एक जाति जाने, उसे कार्यकी भी एक जातिका श्रद्धान अवश्य हो; क्योंकि कारणविशेष होनेपर ही कार्यविशेष होता है। इसलिये हमने यह निश्चय किया कि उसके अभिप्रायमें इन्द्रादिसुख और सिद्धसुखकी एक जातिका श्रद्धान है। तथा कर्मनिमित्तसे आत्माके औपाधिक भाव थे, उनका अभाव होनेपर आप शुद्ध स्वभावरूप केवल आत्मा हुआ। जैसे परमाणु स्कन्धसे पृथक् होनेपर शुद्ध होता है, उसी प्रकार यह कर्मादिकसे भिन्न होकर शुद्ध होता है। विशेष इतना कि—वह दोनों अवस्थामें दुःखी-सुखी नहीं है, परन्तु आत्मा अशुद्ध अवस्थामें दुःखी था, अब उसका अभाव होनेसे निराकुल लक्षण अनन्तसुखकी प्राप्ति हुई। तथा इन्द्रादिकके जो सुख है वह कषायभावोंसे आकुलता-रूप है सो वह परमार्थसे दुःख ही हैं; इसलिये उसकी और इसकी एक जाति नहीं है। तथा स्वर्गसुखका कारण प्रशस्त राग है और मोक्षसुखका कारण वीतरागभाव है, इसलिये कारणमें भी विशेष है। परन्तु ऐसा भाव इसे भासित नहीं होता, इसलिये मोक्षका भी इसको सच्चा श्रद्धान नहीं है। इस प्रकार इसके सच्चा तत्त्वश्रद्धान नहीं है। इसीलिये *समयसारमें कहा है कि—अभव्यको तत्त्वश्रद्धान होनेपर भी मिथ्यादर्शन ही रहता है। तथा प्रवचनसारमें कहा है कि—आत्मज्ञानशून्य तत्त्वार्थश्रद्धान कार्यकारी नहीं है।

---

* गाथा २७६-२७७ की आत्मख्याति टीका।

तथा व्यवहारदृष्टिसे सम्यग्दर्शनके आठ अंग कहे हैं उनको यह पालता है; पच्चीस दोप कहे हैं उनको टालता है; संवेगादिक गुण कहे हैं उनको धारण करता है। परन्तु जैसे वीज वोए विना खेतके सव साधन करने पर भी अन्न नहीं होता, उसी प्रकार सच्चा तत्त्वश्रद्धान हुए विना सम्यक्त्व नहीं होता। पंचास्तिकाय व्याख्यामें जहाँ अन्तमें व्यवहाराभासवालेका वर्णन किया है वहाँ ऐसा ही कथन किया है। इस प्रकार इसको सम्यग्दर्शनके अर्थ साधन करने पर भी सम्यग्दर्शन नहीं होता।

[सम्यग्ज्ञानका अन्यथारूप]

अव, शास्त्रमें सम्यग्ज्ञानके अर्थ शास्त्राभ्यास करनेसे सम्यग्ज्ञान होना कहा है। इसलिये यह शास्त्राभ्यासमें तत्पर रहता है। वहाँ सीखना, सिखाना, याद करना, वाँचना, पढ़ना आदि क्रियाओंमें तो उपयोगको रमाता है, परन्तु उसके प्रयोजन पर दृष्टि नहीं है। इस उपदेशमें मुझे कार्यकारी क्या है, सो अभिप्राय नहीं है, स्वयं, शास्त्राभ्यास करके औरोंको सम्वोधन देनेका अभिप्राय रखता है, और बहुतसे जीव उपदेश मानें वहाँ सन्तुष्ट होता है, परन्तु ज्ञानाभ्यास तो अपने लिये किया जाता है और अवसर पाकर परका भी भला होता हो तो परका भी भला करे। तथा कोई उपदेश न सुने तो मत सुनो, स्वयं क्यों विपाद करें? शास्त्रार्थका भाव जानकर अपना भला करना। तथा शास्त्राभ्यासमें भी कितने ही तो व्याकरण, न्याय, काव्य आदि शास्त्रोंका बहुत अभ्यास करते हैं परन्तु वे तो लोकमें पांडित्य प्रगट करनेके कारण हैं; उनमें आत्महितका निरूपण तो है नहीं। इनका तो प्रयोजन इतना ही है कि—अपनी बुद्धि बहुत हो तो थोड़ा-बहुत इनका अभ्यास करके पश्चात् आत्महितके साधक शास्त्रोंका अभ्यास करना। यदि बुद्धि थोड़ी हो तो आत्महितके साधक सुगम शास्त्रोंका ही अभ्यास करे। ऐसा नहीं करना कि व्याकरणादिका ही अभ्यास करते-करते आयु पूर्ण हो जाये और तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति न वने।

यहाँ कोई कहे—ऐसा है तो व्याकरणादिका अभ्यास नहीं करना चाहिये?

उससे कहते हैं कि—उनके अभ्यासके विना महान् ग्रन्थोंका अर्थ खुलता नहीं है, इसलिये उनका भी अभ्यास करना योग्य है।

फिर प्रश्न है कि—महान् ग्रन्थ ऐसे क्यों वनाये जिनका अर्थ व्याकरणादिके विना न खुले? भाषा द्वारा सुगमरूप हितोपदेश क्यों नहीं लिखा? उनके कुछ प्रयोजन तो था नहीं।

समाधानः—भाषामें भी प्राकृत, संस्कृतादिकके ही शब्द हैं, परन्तु अपभ्रंश सहित हैं। तथा देश-देशमें भाषा अन्य-अन्य प्रकार है, तो महंत पुरुष शास्त्रोंमें अपभ्रंश शब्द कैसे लिखते? बालक तोतला बोले परन्तु बड़े तो नहीं बोलते। तथा एक देशकी भाषारूप शास्त्र दूसरे देशमें जाये, तो वहाँ उसका अर्थ कैसे भासित होगा? इसलिये प्राकृत, संस्कृतादि शुद्ध शब्दरूप ग्रन्थ रचे हैं। तथा व्याकरणके बिना शब्दका अर्थ यथावत् भासित नहीं होता; न्यायके बिना लक्षण, परीक्षा आदि यथावत् नहीं हो सकते—इत्यादि वचन द्वारा वस्तुके स्वरूपका निर्णय व्याकरणादि बिना भलीभाँति न होता जानकर उनकी आम्नाय अनुसार कथन किया है। भाषामें भी उनकी थोड़ी-बहुत आम्नाय आने पर ही उपदेश हो सकता है, परन्तु उनकी बहुत आम्नायसे भली भाँति निर्णय हो सकता है।

फिर कहोगे कि—ऐसा है तो अब भाषारूप ग्रन्थ किसलिये बनाते हैं?

समाधानः—कालदोषसे जीवोंकी मन्दबुद्धि जानकर किन्हीं जीवोंके जितना ज्ञान होगा उतना ही होगा—ऐसा अभिप्राय विचारकर भाषाग्रंथ रचते हैं; इसलिये जो जीव व्याकरणादिका अभ्यास न कर सकें उन्हें ऐसे ग्रंथों द्वारा ही अभ्यास करना। तथा जो जीव शब्दोंकी नाना युक्तियों सहित अर्थ करनेके लिये ही व्याकरणका अवगाहन करते हैं, वादादि करके महंत होनेके लिये न्यायका अवगाहन करते हैं और चतुराई प्रगट करनेके लिये काव्यका अवगाहन करते हैं;—इत्यादि लौकिक प्रयोजन सहित इनका अभ्यास करते हैं वे धर्मात्मा नहीं हैं। इनका बन सके उतना थोड़ा-बहुत अभ्यास करके आत्महितके अर्थ जो तत्त्वादिकका निर्णय करते हैं वही धर्मात्मा-पण्डित जानना।

तथा कितने ही जीव पुण्य-पापादिक फलके निरूपक पुराणादि शास्त्रोंका, पुण्य-पापक्रियाके निरूपक आचारादि शास्त्रोंका तथा गुणस्थान-मार्गणा, कर्मप्रकृति, त्रिलोकादिके निरूपक करणानुयोगके शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं; परन्तु यदि आप इनका प्रयोजन नहीं विचारते, तब तो तोते जैसा ही पढ़ना हुआ। और यदि इनका प्रयोजन विचारते हैं तो वहाँ पापको बुरा जानना, पुण्यको भला जानना, गुणस्थानादिकका स्वरूप जान लेना, तथा जितना इनका अभ्यास करेंगे उतना हमारा भला है;—इत्यादि प्रयोजनका विचार किया है, सो इससे इतना तो होगा कि—नरकादि नहीं होंगे, स्वर्गादिक होंगे, परन्तु मोक्षमार्गकी तो प्राप्ति होगी नहीं।

प्रथम सच्चा तत्त्वज्ञान हो, वहाँ फिर पुण्य-पापके फलको संसार जाने, शुद्धोपयोगसे मोक्ष माने, गुणस्थानादिरूप जीवका व्यवहार निरूपण जाने इत्यादि ज्योंका त्यों श्रद्धान करता हुआ इनका अभ्यास करे तो सम्यग्ज्ञान हो। सो तत्त्वज्ञानके कारण अध्यात्मरूप द्रव्यानुयोगके शास्त्र हैं, और कितने ही जीव उन शास्त्रोंका भी अभ्यास करते हैं, परन्तु वहाँ जैसा लिखा है वैसा निर्णय स्वयं करके आपको आपरूप, परको पररूप और आस्रवादिकका आस्रवादिरूप श्रद्धान नहीं करते। मुखसे तो यथावत् निरूपण ऐसा भी करें जिसके उपदेशसे अन्य जीव सम्यग्दृष्टि हो जायें, परन्तु जैसे कोई लड़का स्त्रीका स्वांग बनाकर ऐसा गाना गाये जिसे सुनकर अन्य पुरुष-स्त्री कामरूप हो जायें। परन्तु वह तो जैसा सीखा वैसा कहता है, उसे कुछ भाव भासित नहीं होता, इसलिये स्वयं कामासक्त नहीं होता। उसी प्रकार यह जैसा लिखा है वैसा उपदेश देता है, परन्तु स्वयं अनुभव नहीं करता। यदि स्वयंको श्रद्धान हुआ होता तो अन्यतत्त्वका अंश अन्यतत्त्वमें न मिलाता; परन्तु इसका ठिकाना नहीं है इसलिये सम्यग्ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार यह ग्यारह अंग तक पढ़े, तथापि सिद्धि नहीं होती। सो समयसारादिमें मिथ्यादृष्टिको ग्यारह अंगोंका ज्ञान होना लिखा है।

यहाँ कोई कहे कि—ज्ञान तो इतना होता है, परन्तु जैसा अभव्यसेनको श्रद्धानरहित ज्ञान हुआ वैसा होता है।

समाधानः—वह तो पापी था, जिसे हिंसादिकी प्रवृत्तिका भय नहीं था। परन्तु जो जीव ग्रैवेयक आदिमें जाता है, उसके ऐसा ज्ञान होता है, वह तो श्रद्धान-रहित नहीं है; उसके तो ऐसा ही श्रद्धान है कि—यह ग्रन्थ सच्चे हैं, परन्तु तत्त्वश्रद्धान सच्चा नहीं हुआ। समयसारमें एक ही जीवके धर्मका श्रद्धान, ग्यारह अंगका ज्ञान और महाव्रतादिकका पालन करना लिखा है। प्रवचनसारमें ऐसा लिखा है कि—आगमज्ञान ऐसा हुआ जिसके द्वारा सर्वपदार्थोंको हस्तामलकवत् जानता है। यह भी जानता है कि इनका जाननेवाला मैं हूँ; परन्तु मैं ज्ञानस्वरूप हूँ,—इस प्रकार स्वयंको परद्रव्यसे भिन्न केवल चैतन्यद्रव्य अनुभव नहीं करता। इसलिये आत्मज्ञानशून्य आगमज्ञान भी कार्यकारी नहीं है। इस प्रकार यह सम्यग्ज्ञानके अर्थ जैन शास्त्रोंका अभ्यास करता है, तथापि इसके सम्यग्ज्ञान नहीं है।

[सम्यक्चारित्रका अन्यथारूप]

तथा इनके सम्यक्चारित्रके अर्थ कैसी प्रवृत्ति है सो कहते हैं—बाह्यक्रिया पर तो इनकी दृष्टि है और परिणाम सुधरने-बिगड़नेका विचार नहीं है। और यदि

परिणामोंका भी विचार हो तो जैसे अपने परिणाम होते दिखायी दें उन्हीं पर दृष्टि रहती है; परन्तु उन परिणामोंकी परम्पराका विचार करने पर अभिप्रायमें जो वासना है उसका विचार नहीं करते। और फल लगता है सो अभिप्रायमें जो वासना है उसका लगता है। इसका विशेष व्याख्यान आगे करेंगे। वहाँ स्वरूप भलीभाँति भासित होगा।

ऐसी पहिचानके बिना बाह्य आचरणका ही उद्यम है। वहाँ कितने ही जीव तो कुलक्रमसे अथवा देखादेखी या क्रोध, मान, माया, लोभादिकसे आचरण करते हैं, उनके तो धर्मबुद्धि ही नहीं है, सम्यक्चारित्र कहाँसे हो? उन जीवोंमें कोई तो भोले हैं व कोई कषायी हैं; सो अज्ञानभाव व कषाय होनेपर सम्यक्चारित्र नहीं होता। तथा कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि—जाननेमें क्या है, कुछ करेंगे तो फल लगेगा।—ऐसा विचारकर व्रत-तप आदि क्रियाहीके उद्यमी रहते हैं और तत्त्वज्ञानका उपाय नहीं करते। सो तत्त्वज्ञानके बिना महाव्रतादिका आचरण भी मिथ्याचारित्र ही नाम पाता है और तत्त्वज्ञान होनेपर कुछ भी व्रतादिक नहीं हैं तथापि असंयतसम्यग्दृष्टि नाम पाता है। इसलिये पहले तत्त्वज्ञानका उपाय करना, पश्चात् कषाय घटानेके लिये बाह्यसाधन करना। यही योगीन्द्रदेवकृत *श्रावकाचारमें कहा है—

"दंसणभूमिहं बाहिरा, जिय वयरुंक्ख ण हुंति।"

अर्थः—इस सम्यग्दर्शन भूमिका बिना हे जीव, व्रतरूपी वृक्ष नहीं होते। अर्थात् जिन जीवोंके तत्त्वज्ञान नहीं है वे यथार्थ आचरण नहीं आचरते। वही विशेष बतलाते हैं—

कितने ही जीव पहले तो बड़ी प्रतिज्ञा धारण कर बैठते हैं, परन्तु अन्तरंगमें विषय-कषाय वासना मिटी नहीं है इसलिये जैसे-तैसे प्रतिज्ञा पूरी करना चाहते हैं। वहाँ उस प्रतिज्ञासे परिणाम दुःखी होते हैं। जैसे कोई बहुत उपवास कर बैठता है और पश्चात् पीड़ासे दुःखी हुआ रोगीको भाँति काल गँवाता है, धर्म साधन नहीं करता; तो प्रथम ही सधती जाने उतनी ही प्रतिज्ञा क्यों न लें? दुःखी होनेमें आर्त्तध्यान हो, उसका फल अच्छा कैसे लगेगा? अथवा उस प्रतिज्ञाका दुःख नहीं सहा जाता तब उसके बदले विषय पोषणके लिये अन्य उपाय करता है। जैसे—तृषा लगे तब पानी तो न पिये और अन्य शीतल उपचार अनेक प्रकार करे; व घृत तो छोड़े

* सावयधम्म दोहा-५७।

और अन्य स्निग्ध वस्तुका उपाय करके भक्षण करे।—इसी प्रकार अन्य जानना। यदि परीषह नहीं सहे जाते थे, विषयवासना नहीं छूटी थी, तो ऐसी प्रतिज्ञा किसलिये की ? सुगम विषय छोड़कर पश्चात् विषम विषयोंका उपाय करना पड़े ऐसा कार्य क्यों करें वहाँ तो उलटा रागभाव तीव्र होता है। अथवा प्रतिज्ञामें दुःख हो तब परिणाम लगानेके लिये कोई आलम्बन विचारता है। जैसे—उपवास करके फिर क्रीड़ा करता है; कितने ही पापी जुआ आदि कुव्यसनोंमें लग जाते हैं अथवा सो रहना चाहते हैं। ऐसा जानते हैं कि किसी प्रकार काल पूरा करना। इसी प्रकार अन्य प्रतिज्ञामें जानना।

अथवा कितने ही पापी ऐसे भी हैं कि—पहले प्रतिज्ञा करते हैं, बादमें उससे दुःखी हों तब प्रतिज्ञा छोड़ देते हैं। प्रतिज्ञा लेना-छोड़ना उनको खेलमात्र है; सो प्रतिज्ञा भंग करनेका महापाप है; इससे तो प्रतिज्ञा न लेना ही भला है। इस प्रकार पहले तो निर्विचार होकर प्रतिज्ञा करते हैं और पश्चात् ऐसी दशा होती है। जैनधर्ममें प्रतिज्ञा न लेनेका दण्ड तो है नहीं; जैनधर्ममें तो ऐसा उपदेश है कि पहले तो तत्त्वज्ञानी हो; फिर जिसका त्याग करे उसका दोष पहिचाने; त्याग करनेमें जो गुण हो उसे जाने; फिर अपने परिणामोंको ठीक करे; वर्तमान परिणामोंहीके भरोसे प्रतिज्ञा न कर बैठे; भविष्यमें निर्वाह होता जाने तो प्रतिज्ञा करे; तथा शरीरकी शक्ति व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिकका विचार करे।—इस प्रकार विचार करके फिर प्रतिज्ञा करनी। वह भी ऐसी करनी जिसके प्रतिज्ञाके प्रति निरादरभाव न हो, परिणाम चढ़ते रहें। ऐसी जैनधर्मकी आम्नाय है।

यहाँ कोई कहे कि—चांडालादिकने प्रतिज्ञा की, उनके इतना विचार कहाँ होता है ?

समाधानः—मरणपर्यन्त कष्ट हो तो हो, परन्तु प्रतिज्ञा नहीं छोड़ना—ऐसा विचार करके वे प्रतिज्ञा करते हैं; प्रतिज्ञाके प्रति निरादरपना नहीं होता। और सम्यग्दृष्टि जो प्रतिज्ञा करते हैं सो तत्त्वज्ञानादिपूर्वक ही करते हैं। तथा जिनके अन्तरंग विरक्तता नहीं हुई और बाह्यप्रतिज्ञा धारण करते हैं, वे प्रतिज्ञाके पहले और बादमें जिसकी प्रतिज्ञा करें उसमें अति आसक्त होकर लगते हैं। जैसे – उपवासके धारणे-पारणेके भोजनमें अति लोभी होकर गरिष्ठादि भोजन करते हैं, शीघ्रता बहुत करते हैं। जैसे—जलको रोक रखा था, जब वह छूटा तभी बहुत प्रवाह चलने लगा।

उसी प्रकार प्रतिज्ञा द्वारा विषयप्रवृत्ति रोक रखी थी, अंतरंग आसक्ति बढ़ती गई, और प्रतिज्ञा पूर्ण होते ही अत्यन्त विषयप्रवृत्ति होने लगी; सो प्रतिज्ञाके कालमें विषयवासना मिटी नहीं; आगे-पीछे उसके वदले अधिक राग किया; सो फल तो रागभाव मिटनेसे होगा, इसलिये जितनी विरक्ति हुई हो उतनी ही प्रतिज्ञा करना। महामुनि भी थोड़ी प्रतिज्ञा करके फिर आहारादिमें उछटि (कमी) करते हैं। और बड़ी प्रतिज्ञा करते हैं तो अपनी शक्ति देखकर करते हैं। जिस प्रकार परिणाम चढ़ते रहें वैसा करते हैं। प्रमाद भी न हो और आकुलता भी उत्पन्न न हो—ऐसी प्रवृत्ति कार्यकारी जानना। तथा जिनकी धर्म पर दृष्टि नहीं है वे कभी तो बड़ा धर्म आचरते हैं, कभी अधिक स्वच्छन्द होकर प्रवर्तते हैं। जैसे किसी धर्म पर्वमें तो वहुत उपवासादि करते हैं, किसी धर्मपर्वमें बारम्बार भोजनादि करते हैं। यदि धर्मवुद्धि हो तो यथायोग्य सर्व धर्मपर्वोंमें यथायोग्य संयमादि धारण करें। तथा कभी तो किसी धर्मकार्यमें बहुत धन खर्च करते हैं और कभी कोई धर्मकार्य आ पहुँचा हो, तब भी वहाँ थोड़ा भी धन खर्च नहीं करते। सो धर्मवुद्धि हो तो यथाशक्ति यथायोग्य सभी धर्मकार्योंमें धन खर्चते रहें।—इसी प्रकार अन्य जानना।

तथा जिनके सच्चा धर्मसाधन नहीं है वे कोई क्रिया तो बहुत वड़ी अंगीकार करते हैं, तथा कोई हीन क्रिया करते हैं। जैसे धनादिकका तो त्याग किया और अच्छा भोजन, अच्छे वस्त्र इत्यादि विषयोंमें विशेष प्रवर्तते हैं। तथा कोई जामा पहिनना, स्त्री सेवन करना इत्यादि कार्योंका तो त्याग करके धर्मात्मापना प्रगट करते हैं, और पश्चात् खोटे व्यापारादि कार्य करते हैं, लोकनिंद्य पापक्रियाओंमें प्रवर्तते हैं।—इसी प्रकार कोई क्रिया अति उच्च तथा कोई क्रिया अति नीची करते हैं। वहाँ लोकनिंद्य होकर धर्मकी हँसी कराते हैं कि—देखो, अमुक धर्मात्मा ऐसे कार्य करता है। जैसे कोई पुरुष एक वस्त्र तो अति उत्तम पहिने और एक वस्त्र अति हीन पहिने तो हँसी ही होती है, उसी प्रकार यह भी हँसीको प्राप्त होता है। सच्चे धर्मकी तो यह आम्नाय है कि—जितने अपने रागादि दूर हुए हों उसके अनुसार जिस पदमें जो धर्म क्रिया सम्भव हो वह सब अंगीकार करे। यदि अल्प रागादि मिटे हों तो निचले पदमें ही प्रवर्तन करे, परन्तु उच्चपद धारण करके नीची क्रिया न करे।

यहाँ प्रश्न है कि—स्त्री सेवनादिका त्याग ऊपरकी प्रतिमामें कहा है, इसलिये निचली अवस्थावाला उनका त्याग करे या नहीं ?

समाधान:—निचली अवस्थावाला उनका सर्वथा त्याग नहीं कर सकता; कोई दोप लगता है; इसलिये ऊपरकी प्रतिमामें त्याग कहा है। निचली अवस्थामें जिस प्रकारका त्याग सम्भव हो, वैसा निचली अवस्थावाला भी करे; परन्तु जिस निचली अवस्थामें जो कार्य सम्भव ही नहीं है उसका करना तो कपायभावोंसे ही होता है। जैसे—कोई सप्तव्यसनका सेवन करता हो, और स्वस्त्रीका त्याग करे, तो कैसे हो सकता है? यद्यपि स्वस्त्रीका त्याग करना धर्म है, तथापि पहले सप्तव्यसनका त्याग हो तभी स्वस्त्रीका त्याग करना योग्य है। इसी प्रकार अन्य जानना।

तथा सर्व प्रकारसे धर्मको न जानता हो, ऐसा जीव किसी धर्मके अंगको मुख्य करके अन्य धर्मोंको गौण करता है। जैसे—कई जीव दया-धर्मको मुख्य करके पूजा-प्रभावनादि कार्यका उत्थापन करते हैं; कितने ही पूजा-प्रभावनादि धर्मको मुख्य करके हिंसादिकका भय नहीं रखते; कितने ही तपकी मुख्यतासे आर्तध्यानादिक करके भी उपवासादि करते हैं तथा अपनेको तपस्वी मानकर निःशंक क्रोधादि करते हैं; कितने ही दानकी मुख्यतासे बहुत पाप करके भी धन उपार्जन करके दान देते हैं, कितने ही आरम्भ-त्यागकी मुख्यतासे याचना आदि करते हैं, *इत्यादि प्रकारसे किसी धर्मको मुख्य करके अन्य धर्मको नहीं गिनते तथा उसके आश्रयसे पापका आचरण करते हैं। उनका यह कार्य ऐसा हुआ जैसे—अविवेकी व्यापारीको किसी व्यापारमें नफेके अर्थ अन्य प्रकारसे बहुत टोटा पड़ता है। चाहिये तो ऐसा कि—जैसे व्यापारीका प्रयोजन नफा है, सर्व विचार कर जैसे नफा बहुत हो वैसा करे; उसी प्रकार ज्ञानीका प्रयोजन वीतरागभाव है, सर्व विचार कर जैसे वीतरागभाव बहुत हो वैसा करे; क्योंकि मूलधर्म वीतरागभाव है। इसी प्रकार अविवेकी जीव अन्यथा धर्म अंगीकार करते हैं, उनके तो सम्यक्चारित्रका आभास भी नहीं होता।

तथा कितने ही जीव अणुव्रत-महाव्रतादिरूप यथार्थ आचरण करते हैं और आचरणके अनुसार ही परिणाम हैं, कोई माया-लोभादिकका अभिप्राय नहीं है; उन्हें धर्म जानकर मोक्षके अर्थ उनका साधन करते हैं, किन्हीं स्वर्गादिकके भोगोंकी भी इच्छा नहीं रखते, परन्तु तत्त्वज्ञान पहले नहीं हुआ, इसलिये आप तो जानते हैं कि मैं मोक्षका साधन कर रहा हूँ, परन्तु जो मोक्षका साधन है उसे जानते भी नहीं; केवल स्वर्गादिकहीका साधन करते हैं। कोई मिसरीको अमृत जानकर भक्षण करे तो उससे

* यहाँ पं० टोडरमलजीकी हस्तलिखित प्रतिके हासियेमें निम्न प्रकार नोंध लिखी हुई है—इहां स्नानादि शौचधर्मका कथन तथा लौकिक कार्य आएं धर्म छोडी तहां लगि जाय तिनिका कथन लिखनां है।

अमृतका गुण तो नहीं होता; अपनी प्रतीतिके अनुसार फल नहीं होता; फल तो जैसा साधन करे वैसा ही लगता है। शास्त्रमें ऐसा कहा है कि—चारित्रमें 'सम्यक्' पद है, वह अज्ञानपूर्वक आचरणकी निवृत्तिके अर्थ है; इसलिये प्रथम तत्त्वज्ञान हो और पश्चात् चारित्र हो सो सम्यक्चारित्र नाम पाता है। जैसे कोई किसान बीज तो बोये नहीं और अन्य साधन करे तो अन्न प्राप्ति कैसे हो? घास-फूस ही होगा। उसी प्रकार अज्ञानी तत्त्वज्ञानका तो अभ्यास करे नहीं और अन्य साधन करे तो मोक्ष प्राप्ति कैसे हो? देवपद आदि ही होंगे। वहाँ कितने ही जीव तो ऐसे हैं जो तत्त्वादिकके भली भाँति नाम भी नहीं जानते, केवल व्रतादिकमें ही प्रवर्तते हैं। कितने ही जीव ऐसे हैं जो पूर्वोक्त प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञानका अयथार्थ साधन करके व्रतादिमें प्रवर्तते हैं। यद्यपि वे व्रतादिकका यथार्थ आचरण करते हैं तथापि यथार्थ श्रद्धान-ज्ञान बिना सर्व आचरण मिथ्याचारित्र ही है। यही समयसार कलशमें कहा है—

> क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
> क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
> साक्षान्मोक्षमिदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
> ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥१४२॥

अर्थः—मोक्षसे पराङ्मुख ऐसे अति दुस्तर पंचाग्नि तपनादि कार्यों द्वारा आप ही क्लेश करते हैं तो करो, तथा अन्य कितने ही जीव महाव्रत और तपके भारसे चिरकालपर्यन्त क्षीण होते हुए क्लेश करते हैं तो करो; परन्तु यह साक्षात् मोक्षस्वरूप सर्व रोगरहित पद, जो अपने आप अनुभवमें आये ऐसा ज्ञानस्वभाव, वह तो ज्ञानगुणके विना अन्य किसी भी प्रकारसे प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं है।

तथा पंचास्तिकायमें जहाँ अंतमें व्यवहाराभासीका कथन किया है वहाँ तेरह प्रकारका चारित्र होनेपर भी उसका मोक्षमार्गमें निषेध किया है। तथा प्रवचनसारमें आत्मज्ञानशून्य संयमभावको अकार्यकारी कहा है। तथा इन्हीं ग्रन्थोंमें व अन्य परमात्मप्रकाशादि शास्त्रोंमें इस प्रयोजनके लिये जहाँ-तहाँ निरूपण है। इसलिये पहले तत्त्वज्ञान होनेपर ही आचरण कार्यकारी है।

यहाँ कोई जाने कि—बाह्यमें तो अणुव्रत-महाव्रतादि साधते हैं परन्तु अन्तरंग परिणाम नहीं हैं और स्वर्गादिककी वांछासे साधते हैं। सो इस प्रकार साधनेसे तो पापबन्ध होता है। द्रव्यलिंगी मुनि अन्तिम ग्रैवेयक तक जाते हैं और परावर्तनोंमें

इकतीस सागर पर्यन्त देवायुकी प्राप्ति अनन्तबार होना लिखा है; सो ऐसे उच्चपद तो तभी प्राप्त करे जब अन्तरंग परिणामपूर्वक महाव्रत पाले, महामन्दकषायी हो, इस लोक-परलोकके भोगादिककी चाह न हो, केवल धर्मबुद्धिसे मोक्षाभिलाषी हुआ साधन साधे। इसलिये द्रव्यलिंगीके स्थूल तो अन्यथापना है नहीं, सूक्ष्म अन्यथापना है सो सम्यग्दृष्टिको भासित होता है। अब इनके धर्मसाधन कैसे है और उसमें अन्यथापना कैसे है ? सो कहते हैं—

प्रथम तो संसारमें नरकादिके दुःख जानकर व स्वर्गादिमें भी जन्म-मरणादिके दुःख जानकर, संसारसे उदास होकर मोक्षको चाहते हैं। सो इन दुःखोंको तो दुःख सभी जानते हैं। इन्द्र-अहमिन्द्रादिक विषयानुरागसे इन्द्रियजनित सुख भोगते हैं, उसे भी दुःख जानकर निराकुल सुखअवस्थाको पहिचानकर मोक्षको चाहते हैं वे ही सम्यग्दृष्टि जानना। तथा विषय सुखादिकका फल नरकादिक है, शरीर अशुचि, विनाशीक है—पोषण योग्य नहीं है, कुटुम्बादिक स्वार्थके सगे हैं,—इत्यादि परद्रव्योंका दोष विचारकर उनका तो त्याग करते हैं और व्रतादिकका फल स्वर्ग-मोक्ष है, तपश्चरणादि पवित्र अविनाशी फलके दाता हैं, उनके द्वारा शरीरका शोषण करने योग्य है, देव-गुरु-शास्त्रादि हितकारी हैं इत्यादि परद्रव्योंके गुणोंका विचार करके उन्हींको अंगीकार करते हैं। इत्यादि प्रकारसे किसी परद्रव्यको बुरा जानकर अनिष्टरूप श्रद्धान करते हैं, किसी परद्रव्यको भला जानकर इष्ट श्रद्धान करते हैं। सो परद्रव्योंमें इष्ट-अनिष्टरूप श्रद्धान सो मिथ्या है। तथा इसी श्रद्धानसे इनके उदासीनता भी द्वेषबुद्धिरूप होती है; क्योंकि किसीको बुरा जानना उसीका नाम द्वेष है।

कोई कहेगा—सम्यग्दृष्टि भी तो बुरा जानकर परद्रव्यका त्याग करते हैं।

समाधानः—सम्यग्दृष्टि परद्रव्योंको बुरा नहीं जानते अपने रागभावको बुरा जानते हैं। आप रागभावको छोड़ते हैं इसलिये उसके कारणका भी त्याग होता है। वस्तुका विचार करनेसे कोई परद्रव्य तो बुरा-भला है नहीं।

कोई कहेगा—निमित्तमात्र तो है ?

उत्तरः—परद्रव्य कोई जबरन् तो बिगाड़ता नहीं है; अपने भाव बिगड़े तब वह भी बाह्य निमित्त है। तथा उसके निमित्त बिना भी भाव बिगड़ते हैं, इसलिये नियमरूपसे निमित्त भी नहीं है। इस प्रकार परद्रव्यका तो दोष देखना मिथ्याभाव है। रागादिभाव ही बुरे हैं परन्तु इसके ऐसी समझ नहीं है। यह परद्रव्योंका दोष देखकर

उनमें द्वेषरूप उदासीनता करता है; सच्ची उदासीनता तो उसका नाम है कि किसी भी द्रव्यका दोष या गुण नहीं भासित हो, इसलिये किसीको बुरा-भला न जाने। स्वको स्व जाने, परको पर जाने, परसे कुछ भी प्रयोजन मेरा नहीं है ऐसा मानकर साक्षीभूत रहे। सो ऐसी उदासीनता ज्ञानीके ही होती है।

तथा यह उदासीन होकर शास्त्रमें जो अणुव्रत-महाव्रतरूप व्यवहारचारित्र कहा है उसे अंगीकार करता है, एकदेश अथवा सर्वदेश हिंसादि पापोंको छोड़ता है, उनके स्थान पर अहिंसादि पुण्यरूप कार्योंमें प्रवर्तता है। तथा जिस प्रकार पर्यायाश्रित पाप कार्योंमें अपना कर्त्तापना मानता था उसी प्रकार अब पर्यायाश्रित पुण्यकार्योंमें अपना कर्तापना मानने लगा।—इस प्रकार पर्यायाश्रित कार्योंमें अहंबुद्धि माननेकी समानता हुई। जैसे—मैं जीवोंको मारता हूँ, मैं परिग्रहधारी हूँ,—इत्यादिरूप मान्यता थी, उसी प्रकार मैं जीवोंकी रक्षा करता हूँ, मैं नग्न परिग्रह रहित हूँ—ऐसी मान्यता हुई। सो पर्यायाश्रित कार्योंमें अहंबुद्धि वही मिथ्यादृष्टि है। यही समयसारमें कहा है—

ये तु कर्त्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसा तताः।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोपि मुमुक्षुतां ॥ १९९ ॥
(कलश)।

अर्थः—जो जीव मिथ्या अंधकार व्याप्त होते हुए अपनेको पर्यायाश्रित क्रियाका कर्ता मानते हैं वे जीव मोक्षाभिलाषी होनेपर भी जैसे अन्यमती सामान्य मनुष्योंको मोक्ष नहीं होता, उसी प्रकार उनको मोक्ष नहीं होता; क्योंकि कर्त्तापनेके श्रद्धानकी समानता है। तथा इस प्रकार आप कर्ता होकर श्रावक धर्म अथवा मुनिधर्मकी क्रियाओंमें मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति निरन्तर रखता है, जैसे उन क्रियाओंमें भंग न हो वैसे प्रवर्तता है, परन्तु ऐसे भाव तो सराग हैं, चारित्र है वह वीतरागभावरूप है इसलिये ऐसे साधनको मोक्षमार्ग मानना मिथ्याबुद्धि है।

प्रश्नः—सराग-वीतराग भेदसे दो प्रकारका चारित्र कहा है सो किस प्रकार है?

उत्तरः—जैसे चावल दो प्रकारके हैं—एक तुष सहित हैं और एक तुष रहित हैं। वहाँ ऐसा जानना कि—तुष है वह चावलका स्वरूप नहीं है, चावलमें दोष है। कोई समझदार तुषसहित चावलका संग्रह करता था, उसे देखकर कोई भोला तुषोंको

ही चावल मानकर संग्रह करे तो वृथा खेदखिन्न ही होगा। वैसे चारित्र दो प्रकारका है—एक सराग है, एक वीतराग है। वहाँ ऐसा जानना कि—जो राग है वह चारित्रका स्वरूप नहीं है, चारित्रमें दोष है। तथा कितने ही ज्ञानी प्रशस्त-राग सहित चारित्र धारण करते हैं; उन्हें देखकर कोई अज्ञानी प्रशस्त रागको ही चारित्र मानकर संग्रह करे तो वृथा खेदखिन्न ही होगा।

यहाँ कोई कहेगा कि—पापक्रिया करनेसे तीव्र रागादिक होते थे, अब इन क्रियाओंको करने पर मन्द राग हुआ; इसलिये जितने अंशोंमें रागभाव कम हुआ उतने अंशोंमें तो चारित्र कहो। जितने अंशोंमें राग रहा उतने अंशोंमें राग कहो।—इस प्रकार उसके सराग चारित्र सम्भव है।

समाधान:—यदि तत्त्वज्ञानपूर्वक ऐसा हो, तब तो तुम कहते हो उसी प्रकार है। तत्त्वज्ञानके बिना उत्कट (उग्र) आचरण होनेपर भी असंयम नाम ही पाता है; क्योंकि रागभाव करनेका अभिप्राय नहीं मिटता। वही बतलाते हैं:—

द्रव्यलिंगी मुनि राज्यादिकको छोड़कर निर्ग्रन्थ होता है, अट्ठाईस मूल गुणोंका पालन करता है, उग्रसे उग्र अनशनादि बहुत तप करता है, क्षुधादिक बाईस परिषह सहता है, शरीरके खंड-खंड होनेपर भी व्यग्र नहीं होता, व्रतभंगके अनेक कारण मिलने पर भी दृढ़ रहता है, किसीसे क्रोध नहीं करता, ऐसे साधनोंका मान नहीं करता, ऐसे साधनोंमें कोई कपट नहीं है, इन साधनों द्वारा इस लोक-परलोकके विषयसुखको नहीं चाहता;—ऐसी उसकी दशा हुई है। यदि ऐसी दशा न हो तो ग्रैवेयक पर्यन्त कैसे पहुँचे ? परन्तु उसे मिथ्यादृष्टि असंयमी ही शास्त्रमें कहा है। उसका कारण यह है कि—उसके तत्त्वोंका श्रद्धान-ज्ञान सच्चा नहीं हुआ है। पहले वर्णन किया उस प्रकार तत्त्वोंका श्रद्धान-ज्ञान हुआ है; उसी अभिप्रायसे सर्व साधन करता है; परन्तु उन साधनोंके अभिप्रायकी परम्पराका विचार करने पर कषायोंका अभिप्राय आता है। किस प्रकार ?—सो सुनो—यह पापके कारण रागादिकको तो हेय जानकर छोड़ता है, परन्तु पुण्यके कारण प्रशस्तरागको उपादेय मानता है; उसकी वृद्धिका उपाय करता है। सो प्रशस्त राग भी तो कषाय है। कषायको उपादेय माना तब कषाय करनेका ही श्रद्धान रहा। अप्रशस्त परद्रव्योंसे द्वेष करके प्रशस्त परद्रव्योंमें राग करनेका अभिप्राय हुआ, कुछ परद्रव्योंमें साम्यभावरूप अभिप्राय नहीं हुआ।

यहाँ प्रश्न है कि—सम्यग्दृष्टि भी तो प्रशस्त रागका उपाय रखता है।

उत्तरः—जैसे किसीका बहुत दण्ड होता था, वह थोड़ा दण्ड देनेका उपाय रखता है, थोड़ा दण्ड देकर हर्ष भी मानता है, परन्तु श्रद्धानमें दण्ड देना अनिष्ट ही मानता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिके पापरूप बहुत कषाय होता था, सो वह पुण्यरूप थोड़ा कषाय करनेका उपाय रखता है, थोड़ा कषाय होनेपर हर्ष भी मानता है, परन्तु श्रद्धानमें कषायको हेय ही मानता है। तथा जैसे—कोई कमाईका कारण जानकर व्यापारादिका उपाय रखता है, उपाय बन जाने पर हर्ष मानता है, उसी प्रकार द्रव्यलिंगी मोक्षका कारण जानकर प्रशस्तरागका उपाय रखता है, उपाय बन जाने पर हर्ष मानता है।—इस प्रकार प्रशस्तरागके उपायमें और हर्षमें समानता होनेपर भी सम्यग्दृष्टिके तो दण्ड समान और मिथ्यादृष्टिके व्यापार समान श्रद्धान पाया जाता है। इसलिये अभिप्रायमें विशेष हुआ।

तथा इसके परीषह–तपश्चरणादिकके निमित्तसे दुःख हो, उसका इलाज तो नहीं करता, परन्तु दुःखका वेदन करता है, सो दुःखका वेदन करना कषाय ही है। जहाँ वीतरागता होती है वहाँ तो जैसे अन्य ज्ञेयको जानता है उसी प्रकार दुःखके कारण ज्ञेयको जानता है, सो ऐसी दशा इसकी होती नहीं है। तथा उनको सहता है वह भी कषायके अभिप्रायरूप विचारसे सहता है। वह विचार ऐसा होता है कि—परवशतासे नरकादि गतिमें बहुत दुःख सहन किये, यह परीषहादिका दुःख तो थोड़ा है। इसको स्ववश सहनेसे स्वर्ग-मोक्ष सुखकी प्राप्ति होती है। यदि इनको न सहें और विषयसुखका सेवन करें तो नरकादिककी प्राप्ति होगी, वहाँ बहुत दुःख होगा।—इत्यादि विचारसे परीषहोंमें अनिष्टबुद्धि रहती है। केवल नरकादिकके भयसे तथा सुखके लोभसे उन्हें सहन करता है; सो यह सब कषायभाव ही हैं। तथा ऐसा विचार होता है कि—जो कर्म बाँधे थे वे भोगे बिना नहीं छूटते; इसलिये मुझे सहने पड़े। सो ऐसे विचारसे कर्मफल चेतनारूप प्रवर्तता है। तथा पर्यायदृष्टिसे जो परीषहादिरूप अवस्था होती है उसे अपनेको हुई मानता है, द्रव्यदृष्टिसे अपनी और शरीरादिककी अवस्थाको भिन्न नहीं पहिचानता। इसी प्रकार नानाप्रकारके व्यवहार विचारसे परीषहादिक सहन करता है।

तथा उसने राज्यादिक विषयसामग्रीका त्याग किया है और इष्ट भोजनादिकका त्याग करता रहता है; वह तो जैसे कोई दाहज्वरवाला वायु होनेके भयसे शीतलवस्तु सेवनका त्याग करता है; परन्तु जब तक शीतलवस्तुका सेवन रुचता है तब तक उसके दाहका अभाव नहीं कहा जाता। उसी प्रकार राग सहित जीव नरकादिकके भयसे विषयसेवनका त्याग करता है, परन्तु जब तक विषयसेवन रुचता है तब तक उसके

रागका अभाव नहीं कहा जाता। तथा जैसे—अमृतका आस्वादी देवको अन्य भोजन स्वयमेव नहीं रुचता, उसी प्रकार स्वरसका आस्वादन करके विषयसेवनकी अरुचि इसके नहीं हुई है। इस प्रकार फलादिककी अपेक्षा परीषह सहनादिको सुखका कारण जानता है और विषयसेवनादिको दुःखका कारण जानता है। तथा तत्काल परीषह सहनादिकसे दुःख होना मानता है और विषयसेवनादिकसे सुख मानता है; तथा जिनसे सुख-दुःखका होना माना जाये उनमें इष्ट-अनिष्टबुद्धिसे राग-द्वेषरूप अभिप्रायका अभाव नहीं होता, और जहाँ राग-द्वेष हैं वहाँ चारित्र नहीं होता। इसलिये यह द्रव्यलिंगी विषयसेवन छोड़कर तपश्चरणादि करता है तथापि असंयमी ही है। सिद्धान्तमें असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टिसे भी इसे हीन कहा है; क्योंकि उनके चौथा-पाँचवाँ गुणस्थान है और इसके पहला ही गुणस्थान है।

यहाँ कोई कहे कि—असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टिके कषायोंकी प्रवृत्ति विशेष है और द्रव्यलिंगी मुनिके थोड़ी है, इसीसे असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टि तो सोलहवें स्वर्ग पर्यन्त ही जाते हैं और द्रव्यलिंगी अन्तिम ग्रैवेयक पर्यन्त जाता है। इसलिये भावलिंगी मुनिसे तो द्रव्यलिंगीको हीन कहो, उसे असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टिसे हीन कैसे कहा जाय?

समाधानः—असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टिके कषायोंकी प्रवृत्ति तो है, परन्तु श्रद्धानमें किसी भी कषायके करनेका अभिप्राय नहीं है। तथा द्रव्यलिंगीके शुभकषाय करनेका अभिप्राय पाया जाता है, श्रद्धानमें उन्हें भला जानता है; इसलिये श्रद्धानकी अपेक्षा असंयत सम्यग्दृष्टिसे भी इसके अधिक कषाय है। तथा द्रव्यलिंगीके योगोंकी प्रवृत्ति शुभरूप बहुत होती है और अघातिकर्मोंमें पुण्य-पापबंधका विशेष शुभ-अशुभ योगोंके अनुसार है, इसलिये वह अंतिम ग्रैवेयकपर्यन्त पहुँचता है; परन्तु वह कुछ कार्यकारी नहीं है, क्योंकि अघातिया कर्म आत्मगुणके घातक नहीं हैं, उनके उदयसे उच्च-नीचपद प्राप्त किये तो क्या हुआ? वे तो बाह्य संयोगमात्र संसारदशाके स्वाँग हैं, आप तो आत्मा है, इसलिये आत्मगुणके घातक जो घातियाकर्म हैं उनकी हीनता कार्यकारी है। उन घातिया कर्मोंका बंध बाह्यप्रवृत्तिके अनुसार नहीं है, अंतरंग कषाय-शक्तिके अनुसार है; इसीलिये द्रव्यलिंगीकी अपेक्षा असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टिके घातिकर्मोंका बंध थोड़ा है। द्रव्यलिंगीके तो सर्व घातिकर्मोंका बंध बहुत स्थिति-अनुभाग सहित होता है, और असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टिके मिथ्यात्व-अनन्तानुबन्धी आदि

कर्मोंका तो बन्ध है ही नहीं, अवशेषोंका बन्ध होता है वह अल्प स्थिति-अनुभाग सहित होता है। तथा द्रव्यलिंगीके कदापि गुणश्रेणी निर्जरा नहीं होती, सम्यग्दृष्टिके कदाचित् होती है और देश व सकल संयम होनेपर निरन्तर होती है। इसीसे यह मोक्षमार्गी हुआ है। इसलिये द्रव्यलिंगी मुनिको शास्त्रमें असंयत व देशसंयत सम्यग्दृष्टिसे हीन कहा है। समयसार शास्त्रमें द्रव्यलिंगी मुनिकी हीनता गाथा, टीका और कलशोंमें प्रगट की है। तथा पंचास्तिकाय टीकामें जहाँ केवल व्यवहारावलम्बीका कथन किया है वहाँ व्यवहार पंचाचार होनेपर भी उसकी हीनता ही प्रगट की है। तथा प्रवचनसारमें संसारतत्त्व द्रव्यलिंगीको कहा है। परमात्मप्रकाशादि अन्य शास्त्रोंमें भी इस व्याख्यानको स्पष्ट किया है। द्रव्यलिंगीके जो जप, तप, शील, संयमादि क्रियाएँ पायी जाती हैं उन्हें भी इन शास्त्रोंमें जहाँ-तहाँ अकार्यकारी बतलाया है, सो वहाँ देख लेना। यहाँ ग्रन्थ बढ़ जानेके भयसे नहीं लिखते हैं। इस प्रकार केवल व्यवहाराभासके अवलम्बी मिथ्यादृष्टियोंका निरूपण किया।

[निश्चय-व्यवहारनयाभासावलम्बीका स्वरूप]

अब, जो निश्चय-व्यवहार दोनों नयोंके आभासका अवलम्बन लेते हैं—ऐसे मिथ्यादृष्टियोंका निरूपण करते हैं:—

जो जीव ऐसा मानते हैं कि—जिनमतमें निश्चय-व्यवहार दोनों नय कहे हैं, इसलिये हमें उन दोनोंका अंगीकार करना चाहिये।—ऐसा विचार कर जैसा केवल निश्चयाभासके अवलम्बियोंका कथन किया था, वैसे तो निश्चयका अंगीकार करते हैं और जैसे केवल व्यवहाराभासके अवलम्बियोंका कथन किया था वैसे व्यवहारका अंगीकार करते हैं। यद्यपि इस प्रकार अंगीकार करनेमें दोनों नयोंके परस्पर विरोध है, तथापि करें क्या ? सच्चा तो दोनों नयोंका स्वरूप भासित हुआ नहीं और जिनमतमें दो नय कहे हैं, उनमेंसे किसीको छोड़ा भी नहीं जाता; इसलिये भ्रमसहित दोनोंका साधन साधते हैं, वे जीव भी मिथ्यादृष्टि जानना।

अब इनकी प्रवृत्तिका विशेष बतलाते हैं—अन्तरंगमें आपने तो निर्धार करके यथावत् निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्गको पहिचाना नहीं, जिन आज्ञा मानकर निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग दो प्रकार मानते हैं। **सो मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्गका निरूपण दो प्रकार** है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्गको मोक्षमार्ग निरूपित किया जाय सो निश्चय मोक्षमार्ग है और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नहीं परन्तु मोक्षमार्गका निमित्त है व सहचारी

है उसे उपचारसे मोक्षमार्ग कहा जाय सो व्यवहारमोक्षमार्ग है; क्योंकि निश्चयव्यवहारका सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सच्चा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार-इसलिये निरूपण-अपेक्षा दो प्रकार मोक्षमार्ग जानना। [किन्तु] एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहारमोक्षमार्ग है—इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। तथा निश्चय-व्यवहार दोनोंको उपादेय मानता है वह भी भ्रम है, क्योंकि निश्चय-व्यवहारका स्वरूप तो परस्पर विरोधसहित है। कारण कि समयसारमें ऐसा कहा है—

"ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिऊण सुद्धणउ* ।" ११ ॥

अर्थः—व्यवहार अभूतार्थ है, सत्यस्वरूपका निरूपण नहीं करता; किसी अपेक्षा उपचारसे अन्यथा निरूपण करता है। तथा शुद्धनय जो निश्चय है वह भूतार्थ है, जैसा वस्तुका स्वरूप है, वैसा निरूपण करता है।—इस प्रकार इन दोनोंका स्वरूप तो विरुद्धता सहित है।

तथा तू ऐसा मानता है कि—सिद्धसमान शुद्ध आत्माका अनुभवन सो निश्चय, और व्रत, शील, संयमादिरूप प्रवृत्ति सो व्यवहार; सो तेरा ऐसा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि किसी द्रव्यभावका नाम निश्चय और किसीका नाम व्यवहार—ऐसा नहीं है। एक ही द्रव्यके भावको उस स्वरूप ही निरूपण करना सो निश्चयनय है, उपचारसे उस द्रव्यके भावको अन्यद्रव्यके भावस्वरूप निरूपण करना सो व्यवहार है। जैसे—मिट्टीके घड़ेको मिट्टीका घड़ा निरूपित किया जाय सो निश्चय और घृतसंयोगके उपचारसे उसीको घृतका घड़ा कहा जाय सो व्यवहार। ऐसे ही अन्यत्र जानना। इसलिये तू किसीको निश्चय माने और किसी को व्यवहार माने वह भ्रम है। तथा तेरे माननेमें भी निश्चय-व्यवहारको परस्पर विरोध आया। यदि तू अपनेको सिद्धसमान शुद्ध मानता है तो व्रतादिक किसलिये करता है? यदि व्रतादिकके साधन द्वारा सिद्ध होना चाहता है तो वर्तमानमें शुद्ध आत्माका अनुभवन मिथ्या हुआ। इस प्रकार दोनों नयोंके परस्पर विरोध है; इसलिये दोनों नयोंका उपादेयपना नहीं बनता।

यहाँ प्रश्न है कि—समयसारादिमें शुद्ध आत्माके अनुभवको निश्चय कहा है; व्रत, तप, संयमादिको व्यवहार कहा है—उस प्रकार ही हम मानते हैं?

समाधानः—शुद्ध आत्माका अनुभव सच्चा मोक्षमार्ग है इसलिये उसे निश्चय कहा। यहाँ, स्वभावसे अभिन्न, परभावसे भिन्न—ऐसा शुद्ध शब्दका अर्थ जानना, संसारी

* ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥ ११ ॥

को सिद्ध मानना—ऐसा भ्रमरूप अर्थ शुद्ध शब्दका नहीं जानना। तथा व्रत, तप आदि मोक्षमार्ग हैं नहीं, निमित्तादिककी अपेक्षा उपचारसे इनको मोक्षमार्ग कहते हैं, इसलिये इन्हें व्यवहार कहा है।—इस प्रकार भूतार्थ-अभूतार्थ मोक्षमार्गपनेसे इनको निश्चय-व्यवहार कहा है; सो ऐसा ही मानना। परन्तु यह दोनों ही सच्चे मोक्षमार्ग हैं, इन दोनोंको उपादेय मानना वह तो मिथ्याबुद्धि ही है।

वहाँ वह कहता है कि—श्रद्धान तो निश्चयका रखते हैं और प्रवृत्ति व्यवहार-रूप रखते हैं,—इस प्रकार हम दोनोंको अंगीकार करते हैं। सो ऐसा भी नहीं बनता; क्योंकि निश्चयका निश्चयरूप और व्यवहारका व्यवहाररूप श्रद्धान करना योग्य है। एक ही नयका श्रद्धान होनेसे एकान्त मिथ्यात्व होता है। तथा प्रवृत्तिमें नयका प्रयोजन ही नहीं है। प्रवृत्ति तो द्रव्यकी परिणति है; वहां जिस द्रव्यको परिणति हो उसको उसीकी प्ररूपित करे सो निश्चयनय, और उसहीको अन्य द्रव्यकी प्ररूपित करे सो व्यव-हारनय;—ऐसे अभिप्रायानुसार प्ररूपणसे उस प्रवृत्तिमें दोनों नय बनते हैं; कुछ प्रवृत्ति ही तो नयरूप है नहीं; इसलिये इस प्रकार भी दोनों नयोंका ग्रहण मानना मिथ्या है। तो क्या करें? सो कहते हैं:—

निश्चयनयसे जो निरूपण किया हो उसे तो सत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान् अंगीकार करना और व्यवहारनयसे जो निरूपण किया हो उसे असत्यार्थ मानकर उसका श्रद्धान छोड़ना। यही समयसार में कहा है:—

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यग् निश्चयमेकमेव परमं निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम्॥

(—कलश १७३)

अर्थ:—क्योंकि सर्व ही हिंसादि व अहिंसादिमें अध्यवसाय हैं सो समस्त ही छोड़ना—ऐसा जिनदेवोंने कहा है। इसलिये मैं ऐसा मानता हूँ कि जो पराश्रित व्यव-हार है सो सर्व ही छुड़ाया है। सन्त पुरुष एक परम निश्चयहीको भले प्रकार निष्क-म्परूप से अंगीकार करके शुद्धज्ञानघनरूप निज महिमामें स्थिति क्यों नहीं करते?

भावार्थ:—यहाँ व्यवहारका तो त्याग कराया है, इसलिये निश्चयको अंगी-कार करके निजमहिमारूप प्रवर्तना युक्त है। तथा षट्पाहुड़में कहा है—

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥

(मोक्षपाहुड-गाथा ३१)

अर्थ:—जो व्यवहारमें सोता है वह योगी अपने कार्यमें जागता है। तथा जो व्यवहारमें जागता है वह अपने कार्यमें सोता है। इसलिये व्यवहारनयका श्रद्धान छोड़कर निश्चयनयका श्रद्धान करना योग्य है। व्यवहारनय स्वद्रव्य-परद्रव्यको व उनके भावोंको व कारणकार्यादिकको किसीको किसीमें मिलाकर निरूपण करता है। सो ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है, इसलिये उसका त्याग करना। तथा निश्चयनय उन्हींको यथावत् निरूपण करता है, किसीको किसीमें नहीं मिलाता है। सो ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है, इसलिये उसका श्रद्धान करना।

यहाँ प्रश्न है कि—यदि ऐसा है तो जिनमार्गमें दोनों नयोंका ग्रहण करना कहा है, सो कैसे?

समाधान:—जिनमार्गमें कहीं तो निश्चयनयकी मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे तो "सत्यार्थ ऐसे ही है"—ऐसा जानना। तथा कहीं व्यवहारनयकी मुख्यता लिये व्याख्यान है, उसे "ऐसे है नहीं, निमित्तादिकी अपेक्षा उपचार किया है"—ऐसा जानना। इस प्रकार जाननेका नाम ही दोनों नयोंका ग्रहण है। तथा दोनों नयोंके व्याख्यानको समान सत्यार्थ जानकर ऐसे भी है, ऐसे भी है—इस प्रकार भ्रमरूप प्रवर्तनसे तो दोनों नयोंका ग्रहण करना नहीं कहा है।

फिर प्रश्न है कि—यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है, तो उसका उपदेश जिनमार्गमें किसलिये दिया?—एक निश्चयनयहीका निरूपण करना था।

समाधान:—ऐसा ही तर्क समयसारमें किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥ ८ ॥

अर्थ:—जिस प्रकार अनार्य अर्थात् म्लेच्छको म्लेच्छभाषा बिना अर्थ ग्रहण करानेमें कोई समर्थ नहीं है; उसी प्रकार व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश अशक्य है; इसलिये व्यवहारका उपदेश है।

तथा इसी सूत्रकी व्याख्यामें ऐसा कहा है कि—'व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्यः*'।

---

* एवं म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन परमार्थप्रतिपादकत्वादुपन्यसनीयोऽथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य इति वचनाद्व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्यः। (समयसार गाथा ८ की आत्मख्याति टीका)

इसका अर्थ है—इस निश्चयको अंगीकार करानेके लिये व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं, परन्तु व्यवहारनय है सो अंगीकार करने योग्य नहीं है।

प्रश्न:—व्यवहार बिना निश्चयका उपदेश कैसे नहीं होता ? और व्यवहारनय कैसे अंगीकार नहीं करना ? सो कहिए।

समाधान:—निश्चयनयसे तो आत्मा परद्रव्योंसे भिन्न, स्वभावोंसे अभिन्न स्वयंसिद्ध वस्तु है; उसे जो नहीं पहिचानते, उनसे इसी प्रकार कहते रहें तब तो वे समझ नहीं पायें। इसलिये उनको व्यवहारनयसे शरीरादिक परद्रव्योंकी सापेक्षता द्वारा नर-नारक-पृथ्वीकायादिरूप जीवके विशेष किये तब मनुष्य जीव है, नारकी जीव है, इत्यादि प्रकार सहित उन्हें जीवकी पहिचान हुई। अथवा अभेद वस्तुमें भेद उत्पन्न करके ज्ञान-दर्शनादि गुण-पर्यायरूप जीवके विशेष किये, तब जाननेवाला जीव है, देखनेवाला जीव है—इत्यादि प्रकारसहित उनको जीवकी पहिचान हुई। तथा निश्चयसे वीतरागभाव मोक्षमार्ग है; उसे जो नहीं पहिचानते उनको ऐसे ही कहते रहें तो वे समझ नहीं पायें। तब उनको व्यवहारनयसे, तत्त्वश्रद्धान-ज्ञानपूर्वक परद्रव्यके निमित्त मिटनेकी सापेक्षता द्वारा व्रत, शील, संयमादिरूप वीतरागभावके विशेष बतलाये तब उन्हें वीतरागभावकी पहिचान हुई। इसी प्रकार अन्यत्र भी व्यवहार बिना निश्चयके उपदेशका न होना जानना।

तथा यहाँ व्यवहारसे नर-नारकादि पर्यायहीको जीव कहा, सो पर्यायहीको जीव नहीं मान लेना। पर्याय तो जीव-पुद्गलके संयोगरूप है। वहाँ निश्चयसे जीवद्रव्य भिन्न है, उसहीको जीव मानना। जीवके संयोगसे शरीरादिकको भी उपचारसे जीव कहा, सो कथनमात्र ही है, परमार्थसे शरीरादिक जीव होते नहीं—ऐसा ही श्रद्धान करना। तथा अभेद आत्मामें ज्ञान-दर्शनादि भेद किये, सो उन्हें भेदरूप ही नहीं मान लेना, क्योंकि भेद तो समझानेके अर्थ किये हैं; निश्चयसे आत्मा अभेद ही है; उसहीको जीव वस्तु मानना। संज्ञा-संख्यादिसे भेद कहे सो कथनमात्र ही हैं; परमार्थसे भिन्न-भिन्न हैं नहीं,—ऐसा ही श्रद्धान करना। तथा परद्रव्यका निमित्त मिटनेकी अपेक्षासे व्रत-शील-संयमादिकको मोक्षमार्ग कहा, सो इन्हींको मोक्षमार्ग नहीं मान लेना; क्योंकि परद्रव्यका ग्रहण-त्याग आत्माके हो तो आत्मा परद्रव्यका कर्ता-हर्त्ता हो जाये; परन्तु कोई द्रव्य किसी द्रव्यके आधीन है नहीं; इसलिये आत्मा अपने भाव रागादिक हैं उन्हें छोड़कर वीतरागी होता है, इसलिये निश्चयसे वीतराग भाव ही

मोक्षमार्ग है । वीतरागभावोंके और व्रतादिकके कदाचित् कार्य-कारणपना है, इसलिये व्रतादिकको मोक्षमार्ग कहे सो कथनमात्र ही हैं; परमार्थसे बाह्यक्रिया मोक्षमार्ग नहीं है—ऐसा ही श्रद्धान करना । इसी प्रकार अन्यत्र भी व्यवहारनयका अंगीकार नहीं करना ऐसा जान लेना ।

यहाँ प्रश्न है कि—व्यवहारनय परको उपदेशमें ही कार्यकारी है या अपना भी प्रयोजन साधता है ?

समाधान:—आप भी जब तक निश्चयनयसे प्ररूपित वस्तुको न पहिचाने तब तक व्यवहारमार्गसे वस्तुका निश्चय करे; इसलिये निचली दशामें अपनेको भी व्यवहारनय कार्यकारी है; परन्तु व्यवहारको उपचारमात्र मानकर उसके द्वारा वस्तुको ठीक प्रकार समझे तब तो कार्यकारी हो; परन्तु यदि निश्चयवत् व्यवहारको भी सत्यभूत मानकर 'वस्तु इस प्रकार ही है'—ऐसा श्रद्धान करे तो उलटा अकार्यकारी होजाये । यही पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें कहा है—

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम् ।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ।। ६ ।।
माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य ।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ।। ७ ।।

अर्थ:—मुनिराज अज्ञानीको समझानेके लिये असत्यार्थ जो व्यवहारनय उसका उपदेश देते हैं । जो केवल व्यवहारहीको जानता है उसे उपदेश ही देना योग्य नहीं है । तथा जैसे कोई सच्चे सिंहको न जाने उसे बिलाव ही सिंह है, उसी प्रकार जो निश्चयको नहीं जाने उसके व्यवहार ही निश्चयपनेको प्राप्त होता है ।

यहाँ कोई निर्विचारी पुरुष ऐसा कहे कि—तुम व्यवहारको असत्यार्थ-हेय कहते हो, तो हम व्रत, शील, संयमादिक व्यवहारकार्य किसलिये करें ?—सबको छोड़ देंगे ।

उससे कहते हैं कि—कुछ व्रत, शील, संयमादिकका नाम व्यवहार नहीं है; इनको मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है, उसे छोड़ दे । और ऐसा श्रद्धान कर कि इनको तो बाह्य सहकारी जानकर उपचारसे मोक्षमार्ग कहा है, यह तो परद्रव्याश्रित हैं; तथा सच्चा मोक्षमार्ग वीतरागभाव है, वह स्वद्रव्याश्रित है ।—इस प्रकार व्यवहारको असत्यार्थ—हेय जानना । व्रतादिकको छोड़नेसे तो व्यवहारका हेयपना होता नहीं है ।

फिर हम पूछते हैं कि—व्रतादिकको छोड़कर क्या करेगा? यदि हिंसादिरूप प्रवर्तेगा तो वहाँ तो मोक्षमार्गका उपचार भी संभव नहीं है; वहाँ प्रवर्तनेसे क्या भला होगा? नरकादि प्राप्त करेगा। इसलिये ऐसा करना तो निर्विचारीपना है। तथा व्रतादिकरूप परिणतिको मिटाकर केवल वीतराग उदासीनभावरूप होना बने तो अच्छा ही है; वह निचलीदशामें हो नहीं सकता; इसलिये व्रतादि साधन छोड़कर स्वच्छन्द होना योग्य नहीं है। इसप्रकार श्रद्धानमें निश्चयको, प्रवृत्तिमें व्यवहारको उपादेय मानना वह भी मिथ्याभाव ही है।

तथा यह जीव दोनों नयोंका अंगीकार करनेके अर्थ कदाचित् अपनेको शुद्ध सिद्धसमान रागादिरहित केवलज्ञानादिसहित आत्मा अनुभवता है, ध्यानमुद्रा धारण करके ऐसे विचारोंमें लगता है; सो ऐसा आप नहीं है, परन्तु भ्रमसे 'निश्चयसे मैं ऐसा ही हूँ'—ऐसा मानकर सन्तुष्ट होता है। तथा कदाचित् वचन द्वारा निरूपण ऐसा ही करता है। परन्तु निश्चय तो यथावत् वस्तुको प्ररूपित करता है। प्रत्यक्ष आप जैसा नहीं है वैसा अपनेको माने तो निश्चयनाम कैसे पाये? जैसा केवल निश्चयाभासवाले जीवके अयथार्थपना पहले कहा था उसी प्रकार इसके जानना।

अथवा यह ऐसा मानता है कि—इस नयसे आत्मा ऐसा है, इस नयसे ऐसा है। सो आत्मा तो जैसा है वैसा ही है, परंतु उसमें नय द्वारा निरूपण करनेका जो अभिप्राय है उसे नहीं पहिचानता। जैसे—आत्मा निश्चयसे तो सिद्धसमान केवलज्ञानादि सहित, द्रव्य-कर्म-नोकर्म-भावकर्म रहित है, और व्यवहारनयसे संसारी मतिज्ञानादि सहित तथा द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्म सहित है—ऐसा मानता है; सो एक आत्माके ऐसे दो स्वरूप तो होते नहीं हैं; जिस भावहीका सहितपना उस भावहीका रहितपना एक वस्तुमें कैसे सम्भव हो? इसलिये ऐसा मानना भ्रम है। तो किस प्रकार है? जैसे—राजा और रंक मनुष्यपनेकी अपेक्षा समान हैं, उसी प्रकार सिद्ध और संसारीको जीवत्वपनेकी अपेक्षा समान कहा है; केवलज्ञानादिकी अपेक्षा समानता मानी जाय, सो तो है नहीं; संसारीके निश्चयसे मति-ज्ञानादिक ही हैं, सिद्धके केवलज्ञान है। इतना विशेष है कि—संसारीके मतिज्ञानादिक कर्मके निमित्तसे हैं, इसलिये स्वभाव अपेक्षा संसारीमें केवल-ज्ञानकी शक्ति कही जाये तो दोष नहीं है जैसे रंक मनुष्यमें राजा होनेकी शक्ति पायी जाती है, उसी प्रकार यह शक्ति जानना। तथा द्रव्यकर्म-नोकर्म पुद्गलसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये निश्चयसे संसारीके भी इनका भिन्नपना है, परन्तु सिद्धकी भाँति इनका कारणकार्य अपेक्षा सम्बन्ध भी न माने तो भ्रम ही है। तथा भावकर्म आत्माका

भाव है सो निश्चयसे आत्माहीका है, परन्तु कर्मके निमित्तसे होता है इसलिये व्यवहारसे कर्मका कहा जाता है। तथा सिद्धकी भाँति संसारीके भी रागादिक न मानना, उन्हें कर्महीका मानना वह भी भ्रम है। इस प्रकार नयोंद्वारा एक ही वस्तुको एक भाव-अपेक्षा 'ऐसा भी मानना और ऐसा भी मानना,' वह तो मिथ्याबुद्धि है; परन्तु भिन्न-भिन्न भावोंकी अपेक्षा नयोंकी प्ररूपणा है—ऐसा मानकर यथासम्भव वस्तुको मानना सो सच्चा श्रद्धान है। इसलिये मिथ्यादृष्टि अनेकान्तरूप वस्तुको मानता है, परन्तु यथार्थ भावको पहिचानकर नहीं मान सकता—ऐसा जानना।

तथा इस जीवके व्रत, शील, संयमादिकका अंगीकार पाया जाता है, सो व्यवहारसे 'यह भी मोक्षके कारण है'—ऐसा मानकर उन्हें उपादेय मानता है; सो जैसे पहले केवल व्यवहारावलम्बी जीवके अयथार्थपना कहा था वैसे ही इसके भी अयथार्थपना जानना। तथा यह ऐसा भी मानता है कि—यथायोग्य व्रतादि क्रिया तो करने योग्य है; परन्तु इसमें ममत्व नहीं करना। सो जिसका आप कर्त्ता हो, उसमें ममत्व कैसे नहीं किया जाय? आप कर्त्ता नहीं है तो 'मुझको करने योग्य है'—ऐसा भाव कैसे किया? और यदि कर्त्ता है तो वह अपना कर्म हुआ, तब कर्ता कर्म सम्बन्ध स्वयमेव ही हुआ; सो ऐसी मान्यता तो भ्रम है। तो कैसे है? वाह्य व्रतादिक हैं वे तो शरीरादि परद्रव्यके आश्रित हैं, परद्रव्यका आप कर्ता है नहीं, इसलिये उसमें कर्तृत्वबुद्धि भी नहीं करना और वहाँ ममत्व भी नहीं करना। तथा व्रतादिकमें ग्रहण-त्यागरूप अपना शुभोपयोग हो, वह अपने आश्रित है; उसका आप कर्ता है, इसलिये उसमें कर्तृत्वबुद्धि भी मानना और वहाँ ममत्व भी करना। परंतु इस शुभोपयोगको बंधका ही कारण जानना, मोक्षका कारण नहीं जानना, क्योंकि बंध और मोक्षके तो प्रतिपक्षीपना है; इसलिये एक ही भाव पुण्य-बंधका भी कारण हो और मोक्षका भी कारण हो—ऐसा मानना भ्रम है। इसलिये व्रत-अव्रत दोनों विकल्परहित जहाँ परद्रव्यके ग्रहण-त्यागका कुछ प्रयोजन नहीं है—ऐसा उदासीन वीतराग शुद्धोपयोग वही मोक्षमार्ग है। तथा निचली दशामें कितने ही जीवोंके शुभोपयोग और शुद्धोपयोगका युक्तपना पाया जाता है; इसलिये उपचारसे व्रतादिक शुभोपयोगको मोक्षमार्ग कहा है, वस्तुका विचार करनेपर शुभोपयोग मोक्षका घातक ही है; क्योंकि बंधका कारण वह ही मोक्षका घातक है—ऐसा श्रद्धान करना। इस प्रकार शुद्धोपयोगहीको उपादेय मानकर उसका उपाय करना और शुभोपयोग-अशुभोपयोगको हेय जानकर उनके त्यागका उपाय करना; जहाँ शुद्धोपयोग न हो सके वहाँ अशुभोपयोगको छोड़कर शुभमें ही प्रवर्तन करना, क्योंकि शुभोपयोगकी अपेक्षा अशुभोपयोगमें अशुद्ध-

ताकी अधिकता है। तथा शुद्धोपयोग हो तब तो परद्रव्यका साक्षीभूत ही रहता है, वहाँ तो कुछ परद्रव्यका प्रयोजन ही नहीं है। शुभोपयोग हो वहाँ बाह्य व्रतादिककी प्रवृत्ति होती है और अशुभोपयोग हो वहाँ बाह्य अव्रतादिककी प्रवृत्ति होती है; क्योंकि अशुद्धोपयोगके और परद्रव्यकी प्रवृत्तिके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पाया जाता है। तथा पहले अशुभोपयोग छूटकर शुभोपयोग हो, फिर शुभोपयोग छूटकर शुद्धोपयोग हो—ऐसी क्रम-परिपाटी है।

तथा कोई ऐसा माने कि—शुभोपयोग है सो शुद्धोपयोगका कारण है; सो जैसे अशुभोपयोग छूटकर शुभोपयोग होता है, वैसे शुभोपयोग छूटकर शुद्धोपयोग होता है। ऐसा ही कार्यकारणपना हो, तो शुभोपयोगका कारण अशुभोपयोग ठहरे। अथवा द्रव्यलिंगीके शुभोपयोग तो उत्कृष्ट होता है, शुद्धोपयोग होता ही नहीं; इसलिये परमार्थसे इनके कारण-कार्यपना है नहीं। जैसे—रोगीको बहुत रोग था, पश्चात् अल्प रोग रहा, तो वह अल्प रोग तो निरोग होनेका कारण है नहीं। इतना है कि—अल्प रोग रहनेपर निरोग होनेका उपाय करे तो हो जाये; परन्तु यदि अल्प रोगको ही भला जानकर उसको रखनेका यत्न करे तो निरोग कैसे हो? उसीप्रकार कषायीके तीव्रकषायरूप अशुभोपयोग था, पश्चात् मन्दकषायरूप शुभोपयोग हुआ; तो वह शुभोपयोग तो निःकषाय शुद्धोपयोग होनेका कारण है नहीं, इतना है कि—शुभोपयोग होनेपर शुद्धोपयोगका यत्न करे तो हो जाये। परन्तु यदि शुभोपयोगकोही भला जानकर उसका साधन किया करे तो शुद्धोपयोग कैसे हो? इसलिये मिथ्यादृष्टिका शुभोपयोग तो शुद्धोपयोगका कारण है नहीं, सम्यग्दृष्टिको शुभोपयोग होनेपर निकट शुद्धोपयोग प्राप्त हो,—ऐसी मुख्यतासे कहीं शुभोपयोगको शुद्धोपयोगका करण भी कहते हैं—ऐसा जानना।

तथा यह जीव अपनेको निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्गका साधक मानता है। वहाँ पूर्वोक्त प्रकारसे आत्माको शुद्ध माना सो तो सम्यग्दर्शन हुआ, वैसा ही जाना सम्यग्ज्ञान हुआ; वैसा ही विचारमें प्रवर्तन किया सो सम्यक् चारित्र हुआ। इस प्रकार तो अपनेको निश्चयरत्नत्रय हुआ मानता है, परन्तु मैं प्रत्यक्ष अशुद्ध, सो शुद्ध कैसे [illegible] -जानता-विचारता हूँ,—इत्यादि विवेक रहित भ्रमसे संतुष्ट होता है। तथा अर- [illegible] व अन्य देवादिकको नहीं मानता, व जैन शास्त्रानुसार जीवादिकके भेद [illegible] उन्हींको मानता है औरोंको नहीं मानता, वह तो सम्यग्दर्शन हुआ; तथा [illegible] बहुत प्रवर्तता है सो सम्यग्ज्ञान हुआ, तथा व्रतादिरूप क्रियाओंमें

प्रवर्तता है सो सम्यक्चारित्र हुआ।—इस प्रकार अपनेको व्यवहाररत्नत्रय हुआ मानता है। परन्तु व्यवहार तो उपचारका नाम है; सो उपचार भी तो तब बनता है जब सत्यभूत निश्चयरत्नत्रयके कारणादिक हों। जिस प्रकार निश्चयरत्नत्रय सध जाये उसी प्रकार इन्हें साधे तो व्यवहारपना भी सम्भव हो। परन्तु इसे तो सत्यभूत निश्चयरत्नत्रय की पहिचान ही हुई नहीं, तो यह इस प्रकार कैसे साध सकेगा? आज्ञानुसारी हुआ देखा-देखी साधन करता है। इसलिये इसके निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग नहीं हुआ। निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्गका आगे निरूपण करेंगे, उसका साधन होनेपर ही मोक्षमार्ग होगा।

—इस प्रकार यह जीव निश्चयाभासको मानता-जानता है; परन्तु व्यवहार-साधनको भी भला जानता है, इसलिये स्वच्छन्द होकर अशुभरूप नहीं प्रवर्तता है। व्रतादिक शुभोपयोगरूप प्रवर्तता है इसलिये अंतिम ग्रैवेयक पर्यन्त पदको प्राप्त करता है। तथा यदि निश्चयाभासकी प्रबलतासे अशुभरूप प्रवृत्ति होजाये तो कुगतिमें भी गमन होता है। परिणामोंके अनुसार फल प्राप्त करता है; परन्तु संसारका ही भोक्ता रहता है; सच्चा मोक्षमार्ग पाए बिना सिद्धपदको नहीं प्राप्त करता है। इस प्रकार निश्चयाभास-व्यवहाराभास दोनोंके अवलम्बी मिथ्यादृष्टियोंका निरूपण किया।

[सम्यक्त्वसन्मुख मिथ्यादृष्टि]

अब, सम्यक्त्वके सन्मुख जो मिथ्यादृष्टि हैं उनका निरूपण करते हैं:—

कोई मन्दकषायादिका कारण पाकर ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षयोपशम हुआ, जिससे तत्त्वविचार करनेकी शक्ति हुई, तथा मोह मन्द हुआ, जिससे तत्त्वविचारमें उद्यम हुआ और बाह्य निमित्त देव, गुरु, शास्त्रादिकका हुआ, उनसे सच्चे उपदेशका लाभ हुआ। वहाँ अपने प्रयोजनभूत मोक्षमार्गके, देव-गुरु-धर्मादिकके, जीवादितत्त्वोंके तथा निज-परके और अपनेको अहितकारी-हितकारी भावोंके,—इत्यादिके उपदेशसे सावधान होकर ऐसा विचार किया कि—अहो, मुझे तो इन बातोंकी खबर ही नहीं, मैं भ्रमसे भूलकर प्राप्त पर्यायहीमें तन्मय हुआ; परन्तु इस पर्यायकी तो थोड़े ही कालकी स्थिति है, तथा यहाँ मुझे सर्व निमित्त मिले हैं, इसलिये मुझे इन बातोंको बराबर समझना चाहिये; क्योंकि इनमें तो मेरा ही प्रयोजन भासित होता है। ऐसा विचारकर जो उपदेश सुना उसके निर्धार करनेका उद्यम किया। वहाँ उद्देश, लक्षणनिर्देश और परीक्षाद्वारा उनका निर्धार होता है, इसलिये पहले तो उनके नाम सीखे, वह उद्देश हुआ। फिर उनके लक्षण जाने, फिर ऐसा सम्भवित है कि नहीं—ऐसे विचार सहित परीक्षा करने लगे।

वहाँ नाम सीख लेना और लक्षण जान लेना यह दोनों तो उपदेशके अनुसार होते हैं; जैसा उपदेश दिया हो वैसा याद कर लेना; तथा परीक्षा करनेमें अपना विवेक चाहिये; सो विवेकपूर्वक एकान्तमें अपने उपयोगमें विचार करे कि—जैसा उपदेश दिया वैसे ही है या अन्यथा है ? वहाँ अनुमानादि प्रमाणसे बराबर समझे। अथवा उपदेश तो ऐसा है, और ऐसा न मानें तो ऐसा होगा। सो इनमें प्रबल युक्ति कौन है और निर्बल युक्ति कौन है ? जो प्रबल भासित हो उसे सत्य जाने, तथा यदि उपदेशसे अन्यथा सत्य भासित हो, अथवा उसमें सन्देह रहे, निर्धार न हो, तो जो विशेषज्ञ हों उनसे पूछे, और वे उत्तर दें उसका विचार करे। इसी प्रकार जबतक निर्धार न हो तबतक प्रश्न-उत्तर करे। अथवा समानबुद्धिके धारक हों उनसे अपना विचार जैसा हुआ हो वैसा कहे और प्रश्न-उत्तर द्वारा परस्पर चर्चा करे। तथा जो प्रश्नोत्तरमें निरूपण हुआ हो उसका एकान्तमें विचार करे। इसी प्रकार जब तक अपने अन्तरंगमें जैसा उपदेश दिया था वैसा ही निर्णय होकर भाव भासित न हो तब तक इसी प्रकार उद्यम किया करे।

तथा अन्यमतियों द्वारा जो कल्पित तत्त्वोंका उपदेश दिया गया है, उससे जैन उपदेश अन्यथा भासित हो व सन्देह हो, तब भी पूर्वोक्त प्रकारसे उद्यम करे।—ऐसा उद्यम करनेपर जैसा जिनदेवका उपदेश है वैसा ही सत्य है, मुझे भी इसी प्रकार भासित होता है—ऐसा निर्णय होता है; क्योंकि जिनदेव अन्यथावादी हैं नहीं।

यहाँ कोई कहे कि—जिनदेव यदि अन्यथावादी नहीं हैं तो जैसा उनका उपदेश है वैसा ही श्रद्धान कर लें, परीक्षा किसलिये करें ?

समाधानः—परीक्षा किये बिना यह तो मानना हो सकता है कि—जिनदेवने ऐसा कहा है सो सत्य है; परन्तु उनका भाव अपनेको भासित नहीं होगा। तथा भाव भासित हुए बिना निर्मल श्रद्धान नहीं होता; क्योंकि जिसकी किसीके वचनहीसे प्रतीति की जाय उसकी अन्यके वचनसे अन्यथा भी प्रतीति हो जाय; इसलिये शक्तिअपेक्षा वचनसे की गई प्रतीति अप्रतीतिवत् है। तथा जिसका भाव भासित हुआ हो, उसे अनेक प्रकारसे भी अन्यथा नहीं मानता, इसलिये भाव भासित होनेपर जो प्रतीति होती है वही सच्ची प्रतीति है। यहाँ यदि कहोगे कि—पुरुषकी प्रमाणतासे वचनकी प्रमाणता की जाती है, तो पुरुषकी भी प्रमाणता स्वयमेव तो नहीं होती; उसके कुछ वचनोंकी परीक्षा पहले करली जाये, तब पुरुषकी प्रमाणता होती है।

प्रश्नः—उपदेश तो अनेक प्रकारके हैं, किस-किसकी परीक्षा करें ?

समाधान:—उपदेशमें कोई उपादेय, कोई हेय तथा कोई ज्ञेयतत्त्वोंका निरूपण किया जाता है; वहाँ उपादेय—हेय तत्त्वोंकी तो परीक्षा कर लेना; क्योंकि इनमें अन्यथापना होनेसे अपना बुरा होता है। उपादेयको हेय मान लें तो बुरा होगा, हेयको उपादेय मानलें तो बुरा होगा।

फिर वह कहेगा—स्वयं परीक्षा न की और जिनवचनहीसे उपादेयको उपादेय जानें तथा हेयको हेय जानें तो इसमें कैसे बुरा होगा?

समाधान:—अर्थका भाव भासित हुए विना वचनका अभिप्राय नहीं पहिचाना जाता। यह तो मानलें कि—मैं जिनवचनानुसार मानता हूँ; परन्तु भाव भासित हुए विना अन्यथापना होजाये। लोकमें भी नौकरको किसी कार्यके लिये भेजते हैं; वहाँ यदि वह उस कार्यका भाव जानता हो तो कार्यको सुधारेगा, यदि भाव भासित नहीं होगा तो कहीं चूक हो जायेगा, इसलिये भाव भासित होनेके अर्थ हेय—उपादेय तत्त्वोंकी परीक्षा अवश्य करना चाहिये।

फिर वह कहता है—यदि परीक्षा अन्यथा होजाये तो क्या करें?

समाधान:—जिनवचन और अपनी परीक्षामें समानता हो, तब तो जानें कि सत्य परीक्षा हुई है। जवतक ऐसा न हो तवतक जैसे कोई हिसाब करता है और उसकी विधि न मिले तवतक अपनी चूकको ढूँढता है; उसी प्रकार यह अपनी परीक्षामें विचार किया करे। तथा जो ज्ञेयतत्त्व हैं उनकी परीक्षा होसके तो परीक्षा करे, नहीं तो यह अनुमान करे कि—जो हेय—उपादेय तत्त्व ही अन्यथा नहीं कहे, तो ज्ञेयतत्त्वोंको अन्यथा किसलिये कहेंगे?

जैसे—कोई प्रयोजनरूप कार्योंमें भी झूठ नहीं बोलता, वह अप्रयोजन झूठ क्यों बोलेगा? इसलिये ज्ञेयतत्त्वोंका स्वरूप परीक्षा द्वारा भी अथवा आज्ञासे जाने। यदि उनका यथार्थ भाव भासित न हो तो भी दोष नहीं है। इसीलिये जैनशास्त्रोंमें जहाँ तत्त्वादिकका निरूपण किया, वहाँ तो हेतु, युक्ति आदि द्वारा जिस प्रकार उसे अनुमानादिसे प्रतीति आये उसी प्रकार कथन किया है। तथा त्रिलोक, गुणस्थान, मार्गणा, पुराणादिकके कथन आज्ञानुसार किये हैं; इसलिये हेयोपादेय तत्त्वोंकी परीक्षा करना योग्य है। वहाँ जीवादिक द्रव्यों व तत्त्वोंको तथा स्व-परको पहिचानना। तथा त्यागने योग्य मिथ्यात्व-रागादिक और ग्रहण करने योग्य सम्यग्दर्शनादिकका स्वरूप पहिचानना। तथा निमित्त-नैमित्तिकादिक जैसे हैं, वैसे पहिचानना।—इत्यादि मोक्षमार्गमें जिनके जाननेसे

प्रवृत्ति होती है उन्हें अवश्य जानना। सो इनकी तो परीक्षा करना। सामान्यरूपसे किसी हेतु-युक्ति द्वारा इनको जानना, व प्रमाण-नय द्वारा जानना, व निर्देश–स्वामित्वादिसे और सत्-संख्यादिसे इनके विशेष जानना। जैसी बुद्धि हो—जैसा निमित्त बने, उसी प्रकार इनको सामान्य-विशेषरूपसे पहिचानना। तथा इस जाननेमें उपकारी गुणस्थान–मार्गणादिक व पुराणादिक व व्रतादिक-क्रियादिकका भी जानना योग्य है। यहाँ जिनकी परीक्षा हो सके उनकी परीक्षा करना, न हो सके उनकी आज्ञानुसार जानकारी करना।

इस प्रकार इस जाननेके अर्थ कभी स्वयं ही विचार करता है, कभी शास्त्र पढ़ता है, कभी सुनता है, कभी अभ्यास करता है, कभी प्रश्नोत्तर करता है,—इत्यादिरूप प्रवर्तता है। अपना कार्य करनेका इसको हर्ष बहुत है इसलिये अंतरंग प्रीतिसे उसका साधन करता है। **इस प्रकार साधन करते हुए** जब तक सच्चा तत्त्वश्रद्धान न हो, 'यह इसी प्रकार है'—**ऐसी प्रतीति सहित जीवादितत्त्वोंका स्वरूप आपको भासित न हो, जैसे पर्यायमें अहंबुद्धि है, वैसे केवल आत्मामें अहंबुद्धि न आये, हित-अहितरूप अपने भावोंको न पहिचाने, तब तक सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टि है; यह जीव थोड़े ही कालमें सम्यक्त्वको प्राप्त होगा;** इसी भवमें या अन्य पर्यायमें सम्यक्त्वको प्राप्त करेगा। इस भवमें अभ्यास करके परलोकमें तिर्यंचादि गतिमें भी जाये तो वहाँ संस्कारके बलसे देव-गुरु-शास्त्रके निमित्त बिना भी सम्यक्त्व हो जाये; क्योंकि ऐसे अभ्यासके बलसे मिथ्यात्वकर्मका अनुभाग हीन होता है। जहाँ उसका उदय न हो वहीं सम्यक्त्व हो जाता है। मूलकारण यही है। देवादिकका तो बाह्य निमित्त है, सो मुख्यतासे तो इनके निमित्तसे ही सम्यक्त्व होता है। तारतम्यसे पूर्व अभ्यास–संस्कारसे वर्तमानमें इनका निमित्त न हो, तो भी सम्यक्त्व होसकता है। सिद्धान्तमें "तन्निसर्गादधिगमाद्वा" (तत्त्वार्थसूत्र १-३) ऐसा सूत्र है। इसका अर्थ यह है कि—वह सम्यग्दर्शन निसर्ग अथवा अधिगमसे होता है। वहाँ देवादिक बाह्यनिमित्तके बिना हो उसे निसर्गसे हुआ कहते हैं; देवादिकके निमित्तसे हो, उसे अधिगमसे हुआ कहते हैं। देखो, तत्त्वविचारकी महिमा! तत्त्वविचाररहित देवादिककी प्रतीति करे, बहुत शास्त्रोंका अभ्यास करे, व्रतादिक पाले, तपश्चरणादि करे, उसको तो सम्यक्त्व होनेका अधिकार नहीं, और तत्त्वविचारवाला इनके बिना भी सम्यक्त्वका अधिकारी होता है। तथा किसी जीवको तत्त्वविचार होनेके पहले कोई कारण पाकर देवादिककी प्रतीति हो, व व्रत-तपका अंगीकार हो, पश्चात् तत्त्वविचार करे; परन्तु सम्यक्त्वका अधिकारी तत्त्वविचार होने पर ही होता है।

तथा किसीको तत्त्वविचार होनेके पश्चात् तत्त्वप्रतीति न होनेसे सम्यक्त्व तो नहीं हुआ और व्यवहारधर्मकी प्रतीति–रुचि होगई, इसलिये देवादिककी प्रतीति करता है व व्रत-तपको अंगीकार करता है। किसीको देवादिककी प्रतीति और सम्यक्त्व युगपत् होते हैं तथा व्रत-तप सम्यक्त्वके साथ भी होते हैं और पहले–पीछे भी होते हैं। देवादिककी प्रतीतिका तो नियम है, उसके बिना सम्यक्त्व नहीं होता; व्रतादिकका नियम है नहीं। बहुत जीव तो पहले सम्यक्त्व हो पश्चात् ही व्रतादिकको धारण करते हैं, किन्हीं को युगपत् भी हो जाते हैं। इस प्रकार यह तत्त्वविचारवाला जीव सम्यक्त्वका अधिकारी है; परन्तु उसके सम्यक्त्व हो ही हो ऐसा नियम नहीं है; क्योंकि शास्त्रमें सम्यक्त्व होनेसे पूर्व पंचलब्धियोंका होना कहा है।—

[पाँच लब्धियोंका स्वरूप]

क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, करण। वहाँ जिसके होनेपर तत्त्व-विचार हो सके— ऐसा ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षयोपशम हो अर्थात् उदयकालको प्राप्त सर्वघाती स्पर्द्धकोंके निषेकोंके उदयका अभाव सो क्षय, तथा अनागतकालमें उदय आने योग्य उन्हींका सत्तारूप रहना सो उपशम; ऐसी देशघाती स्पर्द्धकोंके उदय सहित कर्मोंकी अवस्था उसका नाम क्षयोपशम है; उसकी प्राप्ति सो क्षयोपशमलब्धि है।

तथा मोहका मन्द उदय आनेसे मन्दकषायरूप भाव हों कि जहाँ तत्त्वविचार हो सके सो विशुद्धलब्धि है।

तथा जिनदेवके उपदिष्ट तत्त्वका धारण हो, विचार हो सो देशनालब्धि है। जहाँ नरकादिमें उपदेशका निमित्त न हो वहाँ वह पूर्व संस्कारसे होती है।

तथा कर्मोंकी पूर्व सत्ता अंतः कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण रह जाये और नवीन बंध अंतः कोड़ाकोड़ी प्रमाण उसके संख्यातवें भागमात्र हो, वह भी उस लब्धिकालसे लगाकर क्रमशः घटता जाये और कितनी ही पापप्रकृतियोंका बंध क्रमशः मिटता जाये—इत्यादि योग्य अवस्थाका होना सो प्रायोग्यलब्धि है। सो ये चारों लब्धियाँ भव्य या अभव्यके होती हैं।—ये चार लब्धियाँ होनेके बाद सम्यक्त्व हो तो हो, न हो तो नहीं भी हो—ऐसा 'लब्धिसार' में कहा है।*इसलिये उस तत्त्वविचारवालेको सम्यक्त्व होनेका नियम नहीं है। जैसे—किसीको हितकी शिक्षा दी, उसे जानकर वह विचार करे कि—यह जो शिक्षा दी सो कैसे है ? पश्चात् विचार करनेपर उसको 'ऐसे ही है'—ऐसी उस शिक्षाकी

* लब्धिसार–३

प्रतीति हो जाये; अथवा अन्यथा विचार हो या अन्य विचारमें लगकर उस शिक्षाका निर्धार न करे तो प्रतीति नहीं भी हो; उसी प्रकार श्रीगुरुने तत्त्वोपदेश दिया, उसे जानकर विचार करे कि यह उपदेश दिया सो किस प्रकार है ? पश्चात् विचार करने पर उसको 'ऐसा ही है'—ऐसी प्रतीति हो जाये; अथवा अन्यथा विचार हो, या अन्य विचारमें लगकर उस उपदेशका निर्धार न करे तो प्रतीति नहीं भी हो। सो मूलकारण मिथ्यात्वकर्म है; उसका उदय मिटे तो प्रतीति हो जाये, न मिटे तो नहीं हो;—ऐसा नियम है। उसका उद्यम तो तत्त्वविचार करना मात्र ही है।

तथा पाँचवीं करणलब्धि होनेपर सम्यक्त्व हो ही हो—ऐसा नियम है। सो जिसके पहले कही हुई चार लब्धियाँ तो हुई हों और अंतर्मुहूर्त पश्चात् जिसके सम्यक्त्व होना हो उसी जीवके करणलब्धि होती है। सो इस करणलब्धिवालेके बुद्धिपूर्वक तो इतना ही उद्यम होता है कि—उस तत्त्वविचारमें उपयोगको तद्रूप होकर लगाये, उससे समय-समय परिणाम निर्मल होते जाते हैं। जैसे किसीके शिक्षाका विचार ऐसा निर्मल होने लगा कि जिससे उसको शीघ्र ही उसकी प्रतीति हो जायेगी; उसी प्रकार तत्त्वोपदेशका विचार ऐसा निर्मल होने लगा कि जिससे उसको शीघ्र ही उसका श्रद्धान हो जायेगा। तथा इन परिणामोंका तारतम्य केवलज्ञान द्वारा देखा, उसका निरूपण करणानुयोगमें किया है। इस करणलब्धिके तीन भेद हैं—अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण। इनका विशेष व्याख्यान तो लब्धिसार शास्त्रमें किया है वहाँसे जानना। यहाँ संक्षेपमें कहते हैं:—

त्रिकालवर्ती सर्व करणलब्धिवाले जीवोंके परिणामोंकी अपेक्षा ये तीन नाम हैं। वहाँ करण नाम तो परिणामका है। जहाँ पहले और पिछले समयोंके परिणाम समान हों सो अधःकरण है।* जैसे किसी जीवके परिणाम उस करणके पहले समयमें अल्प विशुद्धतासहित हुए, पश्चात् समय समय अनन्तगुनी विशुद्धतासे बढ़ते गये, तथा उसके द्वितीय-तृतीय आदि समयोंमें जैसे परिणाम हों, वैसे किन्हीं अन्य जीवोंके प्रथम समयमें ही हों और उनके उससे समय समय अनन्तगुनी विशुद्धतासे बढ़ते हों।—इस प्रकार अधःप्रवृत्तिकरण जानना।

तथा जिसमें पहले और पिछले समयोंके परिणाम समान न हों, अपूर्व ही हों वह अपूर्वकरण है। जैसे कि—उस करणके परिणाम जैसे पहले समयमें हों वैसे

---

* लब्धिसार-३५ वीं गाथा।

किसी भी जीवके द्वितीयादि समयोंमें नहीं होते, बढ़ते ही होते हैं; तथा यहाँ अधःकरणवत् जिन जीवोंके करणका पहला समय ही हो, उन अनेक जीवोंके परिणाम परस्परसमान भी होते हैं और अधिक-हीन विशुद्धता सहित भी होते हैं; परन्तु यहाँ इतना विशेष हुआ कि—इसकी उत्कृष्टतासे भी द्वितीयादि समयवालेके जघन्य परिणाम भी अनन्तगुनी विशुद्धता सहित ही होते हैं। इसी प्रकार जिन्हें करण प्रारम्भ किये द्वितीयादि समय हुए हों उनके उस समयवालोंके परिणाम तो परस्पर समान या असमान होते हैं, परन्तु ऊपरके समय-वालोंके परिणाम उस समय समान सर्वथा नहीं होते, अपूर्व ही होते हैं। इस प्रकार अपूर्वकरण* जानना। तथा जिसमें समान समयवर्ती जीवोंके परिणाम समान ही होते हैं, निवृत्ति अर्थात् परस्पर भेद उससे रहित होते हैं। जैसे उस करणके पहले समयमें सर्व जीवोंके परिणाम परस्पर समान ही होते हैं, उसी प्रकार द्वितीयादि समयोंमें पर-स्पर समानता जानना। तथा प्रथमादि समयवालोंसे द्वितीयादि समयवालोंके अनन्तगुनी विशुद्धता सहित होते हैं। इस प्रकार अनिवृत्तिकरण+ जानना—इस प्रकार ये तीन करण जानना। वहाँ पहले अंतर्मुहूर्त कालपर्यंत अधःकरण होता है, वहाँ चार आवश्यक होते हैं:—समय समय अनन्तगुनी विशुद्धता होती है; तथा एक (एक) अंत-र्मुहूर्तसे नवीन बंधकी स्थिति घटती जाती है, सो स्थितिबंधापसरण है, तथा प्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग समय समय अनन्तगुना बढ़ता है और अप्रशस्त प्रकृतियोंका अनु-भागबन्ध समय समय अनंतवेंभाग होता है—इस प्रकार चार आवश्यक होते हैं। वहाँ पश्चात् अपूर्वकरण होता है। उसका काल अधःकरणके कालके संख्यातवें भाग है। उसमें ये आवश्यक और होते हैं। एक-एक अंतर्मुहूर्तसे सत्ताभूत पूर्वकर्मकी स्थिति थी, उसको घटाता है सो स्थितिकाण्डकघात है; तथा उससे छोटे एक-एक अन्तर्मुहूर्तसे पूर्वकर्मके अनुभागको घटाता है सो अनुभागकाण्डकघात है। तथा गुणश्रेणीके कालमें क्रमशः

---

* समए समए भिण्णा भावा तम्हा अपुव्वकरणो हु ॥ लब्धिसार-३६ ॥
जम्हा उवरिमभावा हेट्ठिमभावेहिं णत्थि सरिसत्तं ।
तम्हा विदियं करणं अपुव्वकरणेत्ति णिद्दिट्ठं ॥ लब्धि०-४१ ॥

करणं परिणामो अपुव्वाणि च ताणि करणाणि च अपुव्वकरणाणि, असमाणपरिणामा त्ति जं उत्तं होदि ॥ धवला १-९-८-४ ॥

\+ एगसमए वट्टंताणं जीवाणं परिणामेहि ण विज्जदे णियट्टी णिव्वित्ती जत्थ ते अणियट्टीपरिणामा । धवला १-९-८-४ ।

एक्कम्हि कालसमये संठाणादीहिं जह णिवट्टंति । ण णिवट्टंति तहा विय परिणामेहिं मिहो जेहिं ॥ गो० जीव० ५६ ॥

असंख्यातगुनें प्रमाणसहित कर्मोंको निर्जराके योग्य करता है सो गुणश्रेणी निर्जरा है। तथा गुणसंक्रमण यहाँ नहीं होता, परन्तु अन्यत्र अपूर्वकरण हो वहाँ होता है। इस प्रकार अपूर्वकरण होनेके पश्चात् अनिवृत्तिकरण होता है। उसका काल अपूर्वकरणके भी संख्यातवें भाग है। उसमें पूर्वोक्त आवश्यक सहित कितना ही काल जानेके बाद अन्तरकरण* करता है, जो अनिवृत्तिकरणके काल पश्चात् उदय आने योग्य ऐसे मिथ्यात्वकर्मके मुहूर्त्तमात्र निषेक उनका अभाव करता है; उन परमाणुओंको अन्य स्थिति-रूप परिणमित करता है। तथा अन्तरकरण करनेके पश्चात् उपशमकरण करता है। अन्तरकरण द्वारा अभावरूप किये निषेकोंके ऊपरवाले जो मिथ्यात्वके निषेक हैं उनको उदय आनेके अयोग्य बनाता है। इत्यादिक क्रिया द्वारा अनिवृत्ति करणके अन्तसमयके अनन्तर जिन निषेकोंका अभाव किया था, उनका काल आये, तब निषेकोंके बिना उदय किसका आयेगा? इसलिये मिथ्यात्वका उदय न होनेसे प्रथमोपशम सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। अनादि मिथ्यादृष्टिके सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीयकी सत्ता नहीं है, इसलिये वह एक मिथ्यात्वकर्मका ही उपशम करके उपशम सम्यग्दृष्टि होता है। तथा कोई जीव सम्यक्त्व पाकर फिर भ्रष्ट होता है उसकी दशा भी अनादि मिथ्यादृष्टि जैसी होजाती है।

यहाँ प्रश्न है कि—परीक्षा करके तत्त्वश्रद्धान किया था, उसका अभाव कैसे हो?

समाधानः—जैसे किसी पुरुषको शिक्षा दी। उसकी परीक्षा द्वारा उसे 'ऐसे ही है'—ऐसी प्रतीति भी आयी थी; पश्चात् किसी प्रकारसे अन्यथा विचार हुआ, इसलिये उस शिक्षामें सन्देह हुआ कि—इस प्रकार है या इस प्रकार? अथवा 'न जाने किस प्रकार है?' अथवा उस शिक्षाको झूठ जानकर उससे विपरीतता हुई तब उसे अप्रतीति हुई और उसके उस शिक्षाकी प्रतीतिका अभाव होगया। अथवा पहले तो अन्यथा प्रतीति थी ही, बीचमें शिक्षाके विचारसे यथार्थ प्रतीति हुई थी;

---

* किमंतरकरणं णाम? विवक्खियकम्माणं हेट्ठिमोवरिमट्ठिदीओ मोत्तूण मज्झे अन्तोमुहुत्तमेत्ताणं ट्ठिदीणं परिणामविसेसेण णिसेगाणमभावीकरणं मंतरकरणमिदि भण्णदे॥ (जयधवला, अ० प० ९५३)

अर्थः—अन्तरकरणका क्या स्वरूप है? उत्तरः—विवक्षितकर्मोंकी अधस्तन और उपरिम स्थितियोंको छोड़कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्तमात्र स्थितियोंके निषेकोंका परिणाम विशेषके द्वारा अभाव करनेको अन्तरकरण कहते हैं।

परन्तु उस शिक्षाका विचार किये बहुत काल हो गया, तब उसे भूलकर जैसी पहले अन्यथा प्रतीति थी वैसी ही स्वयमेव हो गई। तब उस शिक्षाकी प्रतीतिका अभाव हो जाता है। अथवा यथार्थ प्रतीति पहले तो की; पश्चात् न तो कोई अन्यथा विचार किया, न बहुत काल हुआ, परन्तु वैसे ही कर्मोदयसे होनहारके अनुसार स्वयमेव ही उस प्रतीतिका अभाव होकर अन्यथापना हुआ। ऐसे अनेक प्रकारसे उस शिक्षाकी यथार्थ प्रतीतिका अभाव होता है। उसीप्रकार जीवको जिनदेवका तत्त्वादिरूप उपदेश हुआ; उसकी परीक्षा करके उसे 'ऐसे ही है'—ऐसा श्रद्धान हुआ; पश्चात् जैसे पहले कहे थे वैसे अनेक प्रकारसे उस यथार्थ श्रद्धानका अभाव होता है। यह कथन स्थूलरूपसे बतलाया है; तारतम्यसे तो केवलज्ञानमें भासित होता है कि—'इस समय श्रद्धान है और इस समय नहीं है, क्योंकि यहाँ मूलकारण मिथ्यात्व कर्म है। उसका उदय हो तब तो अन्य विचारादि कारण मिलें या न मिलें, स्वयमेव सम्यक् श्रद्धानका अभाव होता है। और उसका उदय न हो तब अन्य कारण मिलें या न मिलें, स्वयमेव सम्यक् श्रद्धान हो जाता है। सो ऐसी अन्तरंग समय-समय सम्बन्धी सूक्ष्मदशाका जानना छद्मस्थको नहीं होता इसलिये इसे अपनी मिथ्या-सम्यक् श्रद्धानरूप अवस्थाके तारतम्यका निश्चय नहीं हो सकता; केवलज्ञानमें भासित होता है।—इस अपेक्षा गुणस्थानोंका पलटना शास्त्रमें कहा है।

—इसप्रकार जो सम्यक्त्वसे भ्रष्ट हो उसे सादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं; उसके भी पुनः सम्यक्त्वकी प्राप्तिमें पूर्वोक्त पाँच लब्धियाँ होती हैं। विशेष इतना कि—यहाँ किसी जीवके दर्शनमोहकी तीन प्रकृतियोंकी सत्ता होती है, सो तीनोंका उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्वी होता है। अथवा किसीके सम्यक्त्व मोहनीयका उदय आता है, दो प्रकृतियोंका उदय नहीं होता, वह क्षयोपशम सम्यक्त्वी होता है। उसके गुणश्रेणी आदि क्रिया नहीं होती तथा अनिवृत्तिकरण नहीं होता। तथा किसीको मिश्रमोहनीयका उदय आता है, दो प्रकृतियोंका उदय नहीं होता, वह मिश्रगुणस्थानको प्राप्त होता है, उसके करण नहीं होते।—इसप्रकार सादि मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्व छूटने पर दशा होती है। क्षायिक सम्यक्त्वको वेदक सम्यग्दृष्टि ही प्राप्त करता है, इसलिये उसका कथन यहाँ नहीं किया है। इसप्रकार सादि मिथ्यादृष्टिका जघन्य तो मध्यम अन्तर्मुहूर्तमात्र, उत्कृष्ट किंचित् न्यून अर्द्ध पुद्गलपरावर्तनमात्र काल जानना। देखो, परिणामोंकी विचित्रता! कोई जीव तो ग्यारहवें गुणस्थानमें यथाख्यात चारित्र प्राप्त करके पुनः मिथ्यादृष्टि होकर किंचित् न्यून अर्द्ध पुद्गलपरावर्तन काल पर्यन्त संसारमें रुलता है और कोई

नित्यनिगोदसे निकलकर मनुष्य होकर मिथ्यात्व छूटनेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त करता है। ऐसा जानकर अपने परिणाम बिगाड़नेका भय रखना और उनके सुधारनेका उपाय करना।

तथा उस सादि मिथ्यादृष्टिके थोड़े काल मिथ्यात्वका उदय रहे तो बाह्य जैनीपना नष्ट नहीं होता व तत्त्वोंका अश्रद्धान व्यक्त नहीं होता, व विचार किये बिना ही व थोड़े विचारहीसे पुनः सम्यक्त्वकी प्राप्ति हो जाती है। तथा बहुत काल तक मिथ्यात्वका उदय रहे तो जैसी अनादि मिथ्यादृष्टिकी दशा होती है वैसी इसकी भी दशा होती है। गृहीत मिथ्यात्वको भी वह ग्रहण करता है और निगोदादिमें भी रुलता है। इसका कोई प्रमाण नहीं है।

तथा कोई जीव सम्यक्त्वसे भ्रष्ट होकर सासादन होता है और वहाँ जघन्य एक समय उत्कृष्ट छह आवली प्रमाण काल रहता है। उसके परिणामकी दशा वचन द्वारा कहनेमें नहीं आती। सूक्ष्मकाल मात्र किसी जातिके केवलज्ञानगम्य परिणाम होते हैं। वहाँ अनन्तानुबन्धीका तो उदय होता है, मिथ्यात्वका उदय नहीं होता। सो आगम प्रमाणसे उसका स्वरूप जानना।

तथा कोई जीव सम्यक्त्वसे भ्रष्ट होकर मिश्रगुणस्थानको प्राप्त होता है। वहाँ मिश्रमोहनीयका उदय होता है, इसका काल मध्यम अन्तर्मुहूर्तमात्र है। सो इसका भी काल थोड़ा है, इसलिये इसके भी परिणाम केवलज्ञानगम्य हैं। यहाँ इतना भासित होता है कि—जैसे, किसीको शिक्षा दी; उसे वह कुछ सत्य और कुछ असत्य एक ही कालमें माने; उसीप्रकार तत्त्वोंका श्रद्धान-अश्रद्धान एक ही कालमें हो वह मिश्रदशा है।

कितने ही कहते हैं—'हमें तो जिनदेव तथा अन्य देव सर्व ही वंदन करने योग्य हैं'—इत्यादि मिश्र श्रद्धानको मिश्रगुणस्थान कहते हैं। सो ऐसा नहीं है; यह तो प्रत्यक्ष मिथ्यात्वदशा है। व्यवहाररूप देवादिकका श्रद्धान होनेपर भी मिथ्यात्व रहता है, तब इसके तो देव-कुदेवका कुछ निर्णय ही नहीं है, इसलिये इसके तो यह विनय मिथ्यात्व प्रगट है—ऐसा जानना।

इसप्रकार सम्यक्त्वके सन्मुख मिथ्यादृष्टियोंका कथन किया; प्रसंग पाकर अन्य भी कथन किया है। इसप्रकार जैनमतवाले मिथ्यादृष्टियोंके स्वरूपका निरूपण किया। यहाँ नानाप्रकारके मिथ्यादृष्टियोंका कथन किया है। उसका प्रयोजन यह जानना कि—उन प्रकारोंको पहिचानकर अपनेमें ऐसा दोष हो तो उसे दूर करके सम्यक्श्रद्धानी होना, औरोंके ही ऐसे दोष देख-देखकर कषायी नहीं होना; क्योंकि

अपना भला-बुरा तो अपने परिणामोंसे है। औरोंको तो रुचिवान देखें तो कुछ उपदेश देकर उनका भी भला करें। इसलिये अपने परिणाम सुधारनेका उपाय करना योग्य है; सर्व प्रकारके मिथ्यात्वभाव छोड़कर सम्यग्दृष्टि होना योग्य है, क्योंकि संसारका मूल मिथ्यात्व है। मिथ्यात्वके समान अन्य पाप नहीं है। एक मिथ्यात्व और उसके साथ अनन्तानुबन्धीका अभाव होनेपर इकतालीस प्रकृतियोंका तो बन्ध ही मिट जाता है, स्थिति अंतःकोड़ाकोड़ी सागरकी रह जाती है, अनुभाग थोड़ा ही रह जाता है, शीघ्र ही मोक्षपदको प्राप्त करता है। तथा मिथ्यात्वका सद्भाव रहने पर अन्य अनेक उपाय करने पर भी मोक्षमार्ग नहीं होता। इसलिये जिस-तिस उपायसे सर्वप्रकार मिथ्यात्वका नाश करना योग्य है।

इति मोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्रमें जैनमतवाले मिथ्यादृष्टियोंका
निरूपण जिसमें हुआ ऐसा [सातवाँ] अधिकार
सम्पूर्ण हुआ ॥७॥

सर्वज्ञ वीतराग कथित तत्त्वज्ञान तथा मोक्षमार्ग (सुखका उपाय) समझने के लिये निम्न शास्त्रजी तथा ग्रन्थोंका अवश्य स्वाध्याय करें ।

श्री समयसारजी शास्त्र	५-०
प्रवचनसार शास्त्र	४-०
नियमसार शास्त्र	४-०
पंचास्तिकाय-समयसार संग्रह	३-५०
समयसार प्रवचन भाग ४ कर्त्ता कर्म अ० पृ० ५६३	४-०
मोक्षशास्त्र बड़ी टीका, प्राचीन जैनाचार्यों की टीकाओंका सार पृ० सं० ६००	५-०
आत्मप्रसिद्धि (स० सार ४७ शक्तियों पर विस्तृत प्रवचन	४-०
स्वयंभू स्तोत्र	०-५०
मुक्तिका मार्ग	०-६०
जैन सिद्धान्त प्रश्नोत्तरमाला भाग १-२-३ प्रत्येक का	०-६०
श्री योगीन्दुदेव आचार्यकृत योगसार दोहा बड़े टाइपमें तथा उपादान निमित्त दोहा	०-१२
छहढाला मूल बड़े टाइपमें	०-१५
अनुभव प्रकाश मूलग्रन्थ	०-३५
अष्ट प्रवचन (ज्ञान समुच्चयसार श्री तारण स्वामी कृत ग्रन्थ पर प्रवचन)	१-५०
श्री समयसारजी कलश टीका श्री राजमलजी पांडेकृत प्राचीन टीकाका आधुनिक भाषामें	२-०
छहढाला सचित्र नई सुबोध टीका	१-०
जैन बाल पोथी	०-२५
ज्ञानस्वभाव ज्ञेयस्वभाव	प्रेसमें
वस्तु विज्ञानसार	प्रेसमें
अष्टपाहुड़	प्रेसमें
अपूर्व अवसर नामक अमर काव्य पर प्रवचन तथा श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत द्वादशानुप्रेक्षा	प्रेसमें १-०
भेद विज्ञानसार स० सार सर्व विशुद्धज्ञान अधिकार पर प्रवचन	२-०
अध्यात्म पाठ संग्रह	५-०
वैराग्य पाठ संग्रह	१-०
निमित्त नैमित्तिक संबंध	०-१५
स्तोत्रत्रयी	०-५०
पंचमेरु पूजा आदि संग्रह	१-०
बृ० दसलक्षण धर्म व्रत विधान	०-७५
लघु जैन सिद्धान्त प्रवेशिका	०-२५
जैन तत्त्व मीमांसा	१-०
आत्मधर्म वीर सं० २४६२ एक सालके लिये	२-०
सजिल्द फाइलें आत्मधर्म	३-६५

अपूर्व ग्रन्थ

समयसार कलश टीका

श्री राजमलजी पांडे कृत प्राचीन हस्त लिखित प्रतियोंसे बराबर मिलान करके आधुनिक भाषामें बड़े टाइपमें उत्तम प्रकाशन। आत्महितका ही जिसको प्रयोजन हो उनके लिये गूढ़तम तत्त्वज्ञान के मर्मको अत्यंत स्पष्टतया खोलकर स्वात्मानुभूतिमय उपाय को बतानेवाला यह ग्रन्थ अनुपम ज्ञान निधि है। श्री पं० राजमलजी ने (वि० सं० १६१५) पूर्वाचार्योंके कथनानुसार आध्यात्मिक पवित्र विद्या की चमत्कारमयी टीका बनाई है। लागत ५) मूल्य होने पर घटाया हुआ मूल्य २-० पोस्टेज १-४५

पता—श्री दि० जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)